आंतर ज्योत
श्री योग वेदान्त सेवा समिति
पूज्यपाद
संत श्री आसारामजी बापू

आंतर ज्योत

निवेदन

इस पुस्तक में जीवन के मौलिक प्रश्न विषयक संतों-महापुरुषों का गहन वेदान्तिक अध्ययन एवं उनके अनुभव का नवनीत भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है जो आज के दुर्बल तन-मन वाले समाज के लिए अत्यंत आवश्यक है। अगर पाँच-सात बार इसका पठन एवं मनन शांति पूर्वक किया जाय तो यह आध्यात्मिक नवनीत पुष्टिदायक सिद्ध होगा। इसके मनन से तमाम प्रश्नों के उत्तर भी भीतर से स्फुरित होने लगेंगे, ऐसी आशा है।

संतों का प्रसाद अपनी यथामति-गति से समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए समिति आनंद का अनुभव करती है।

परमात्मा के प्यारे.... संतों के दुलारे बालक बंधु ! इस प्रकाशन के विषय में आपसे प्रतिक्रियाएँ स्वीकार्य हैं।

विनीत
श्री योग वेदान्त सेवा समिति
अमदावाद आश्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

अनुक्रम

Contents

आंतर ज्योत

भारत देश के ऋषियों ने जो अदभुत खोजें की हैं, वैसी खोजें विश्व में कहीं भी नहीं हुई हैं। मनुष्य का स्वभाव तीन गुणों के प्रभाव से संचालित होता है। उनमें से रजो-तमोगुण मनुष्य को अत्यंत दुःखद अनुभव करवाकर उसके वर्तमान जीवन को निकृष्ट बना देता है और फिर वृक्ष, पशु, पक्षी जैसी तुच्छ योनियों में ले जाता है। सत्त्वगुण वर्तमान जीवन को दिव्य बनाता है और स्वर्ग एवं ब्रह्मलोक आदि उच्च लोकों में पहुँचाता है। इसमें भी यदि ब्रह्मवेत्ताओं का प्रत्यक्ष सान्निध्य एवं सत्संग मिले तो तीनो गुणों से पार अपने असली आनंदधन आत्मा को जानकर जीव जीवन्मुक्त हो सकता है।

चलो, अब रजो-तमोगुण के कुप्रभाव एवं सत्त्वगुण के सुप्रभाव को निहारें।

तमोगुणी मानव वर्ग आलसी-प्रमादी होकर, गंदे विषय-विकारों का मन में संग्रह करके बैठे-बैठे या सोते-सोते भी इन्द्रियभोग के स्वप्न देखता रहता है। यदि कभी कर्मपरायण हों तो भी यह वर्ग हिंसा, द्वेष, मोह जैसे देहधर्म के कर्म में ही प्रवृत्त रहकर बंधनों में बँधता जाता है। मलिन आहार, अशुद्ध विचार और दुष्ट आचार का सेवन करते-करते तमोगुणी मानव पुतले को आलसी-प्रमादी रहते हुए ही देहभोग की भूख मिटाने की जितनी आवश्यकता होती है उतना ही कर्मपरायण रहने का उसका मन होता है।

रजोगुणी मनुष्य प्रमादी नहीं, प्रवृत्तिपरायण होता है। उसकी कर्मपरंपरा की पृष्ठभूमि में आंतरिक हेतु रूप से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दंभ आदि सब भरा हुआ होता है। सत्ताधिकार की तीव्र लालसा और देहरक्षा के ही कर्म-विकर्मों के कंटकवृक्ष उसकी मनोभूमि में उगकर फूलते-फलते हैं। उसके लोभ की सीमा बढ़-बढ़कर रक्त-संबंधियों तक पहुँचती हैं। कभी उससे आगे बढ़कर जहाँ मान मिलता हो, वाहवाही या धन्यवाद की वर्षा होती है, ऐसे प्रसंगों में वह थोड़ा खर्च कर लेता है। ऐसे रजोगुणी मनुष्य का मन भी बहिर्मुख ही कहलाता है। ऐसा मन बड़प्पन के पीछे पागल होता है। उसका मन विषय-विलास की वस्तुओं को एकत्रित करने में लिप्त होकर अर्थ-संचय एवं विषय-संचय करने के खेल ही खेलता रहता है।

इन दोनों ही वर्गों के मनुष्यों का मन स्वच्छंदी, स्वार्थी, सत्ताप्रिय, अर्थप्रिय और मान चाहने वाला होता है और कभी-कभार छल-प्रपंच के समक्ष उसके अनुसार टक्कर लेने में भी सक्षम होने की योग्यता रखता है। ऐसे मन की दिशा इन्द्रियों के प्रति, इन्द्रियों के विषयों के प्रति और विषय भोगों के प्रति निवृत्त न होने पर भोगप्राप्ति के नित्य नवीन कर्मों को करने की योजना में प्रवृत्त हो जाती है। ऐसा मन विचार करके बुद्धि को शुद्ध नहीं करता अपितु बुद्धि को

रजोगुण से रँगकर, अपनी वासनानुसार उसकी स्वीकृति लेकर - **'मैं जो करता हूँ वह ठीक ही करता हूँ'** ऐसी दंभयुक्त मान्यता खड़ी कर देता है।

ऐसे आसुरी भाव से आक्रान्त लोगों का अनुकरण आप मत करना। राजसी व्यक्तियों के रजोगुण से अनेक प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होती हैं अतः हे भाई ! सावधान रहना। रजो-तमोगुण की प्रधानता से ही समस्त पाप पनपते हैं। जैसे हँसिया, चाकू, छुरी, तलवार आदि भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनकी धातु लोहा एक ही है ऐसे ही पाप के नाम भिन्न-भिन्न होने पर भी पाप की जड़ रजो-तमोगुण ही है।

संसार में बहुमत ऐसे वर्ग का ही है। ऐसा वर्ग प्रवृत्तिपरायण कहलाता है। इसके कर्म में मोक्षबुद्धि नहीं होती। अतः यदि इस वर्ग को स्वतंत्र रूप से व्यवहार करने दें तो समाज में ऐसी अव्यवस्था उठ खड़ी होती है जिसके फलस्वरूप सर्वत्र स्वार्थ और दंभरूपी बादल छा जाते हैं, कपट एवं प्रपंच की आँधी चलने लगती है तथा सर्वत्र दुःख और विपत्तियों के प्रहार होने से प्रजा त्राहि-त्राहि पुकार उठती है। ये दो वर्ग ही यदि परस्पर टकराने लगे तो हिंसा, द्वेष, स्वार्थ और भोगबुद्धि के कर्मों में ही प्रजा लिप्त रहने लगती है और युद्ध की नौबत आ जाती है। प्रत्येक युग एवं प्रत्येक देश में ऐसे ही संहार होता रहता है।

यह उन्नति का मार्ग नहीं है। अवनति की ओर जाते मानव के लिए आत्मोन्नति के आनंद की ओर चलने के लिए बुद्धि के शोधन की, उसकी विचार शक्ति में विवेक के सूर्य का उदय करने की आवश्यकता है। मन एवं इन्द्रियों को विषयों के स्मरण, चिन्तन, प्राप्ति एवं भोग की जन्म-जन्मांतरों की जो आदत पड़ी हुई है, उनमें असारता का दर्शन होने पर मन उनसे विमुख होता है तब बुद्धि को अपने से भी परे आत्मा की ओर अभिमुख होने की रूचि एवं जिज्ञासा होती है, आत्सरस पीने का सौभाग्य प्राप्त होता है, संसार की मायाजाल से बचने का बल मिलता है।

जब बुद्धि को आत्मनिरीक्षण के लिए विचार करने की भोगमुक्त दशा प्राप्त होती है तब वह प्रत्येक कर्म में विवेक का उपयोग करती है। उस वक्त उसके अन्तःकरण में आत्मा का कुछ प्रकाश पड़ता है, जिससे विषयों का अंधकार कुछ अंश में क्षीण होता है। यह है नीचे से ऊपर जाने वाला तीसरा, आंतर में से प्रकट होने वाला स्वयंभू सुख की लालसावाला, बुद्धि के स्वयं के प्रकाश का भोक्ता - सत्त्वगुण। इस सत्त्वगुण की प्रकाशमय स्थिति के कारण बुद्धि का शोधन होता है। कर्म-अकर्म, धर्म अधर्म, नीति-अनीति, सार-असार, नित्य-अनित्य वगैरह को समझकर अलग करने एवं धर्म, नीति, सदाचार तथा नित्य वस्तु के प्रति चित्त की सहज स्वाभाविक अभिरूचि करने की शक्ति इसी से संप्राप्त होती है।

एक ओर मानवीय जीवन के आंतर प्रदेश में आत्मा (आनंदमय कोष) एवं बुद्धि (विज्ञानमय कोष) है तो दूसरी ओर प्राण (प्राणमय कोष) तथा शरीर (अन्नमय कोष) है। इन दोनों के बीच मन (मनोमय कोष) है। वह जब बहिर्मुख बनता है तब प्राण तथा शरीर द्वारा

इन्द्रियाँ विषय-भोगों में लिप्त होकर वैसे ही धर्म-कर्म में प्रवृत्त रहती हैं। यही है मानवीय जीवन की तामसिक एवं राजसिक अवस्था की चक्राकार गति।

परंतु उसी मन (मनोमय कोष) को ऊर्ध्वमुख, अंतर्मुख अथवा आत्माभिमुख करना - यही है मानव जीवन का परम कल्याणकारी लक्ष्य। ऋषियों में परम आनंदमय आत्मा को ही लक्ष्य माना है क्योंकि मनुष्य के जीवनकाल की मीमांसाकरने पर यह बात स्पष्ट होती है कि उसकी सब भाग दौड़ होती है सुख के लिए, नित्य सुख के लिए। नित्य एवं निरावधि सुख की निरंतर आकांक्षा होने के बावजूद भी वह रजो-तमोगुण एवं इन्द्रियलोलुपता के अधीन होकर हमेशा बहिर्मुख ही रहता है। उसकी समस्त क्रियाएँ विषयप्राप्ति के लिए ही होती हैं। उसकी जीवन-संपदा, शारीरिक बल, संकल्पशक्ति आदि का जो भी उसका सर्वस्व माना जाता है वह सब जन्म मृत्यु के बीच में ही व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

परंतु उसी मन(अंतःकरण) पर यदि सत्त्वगुण का प्रकाश पड़े तो उसे स्वधर्म-स्वर्म की, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की सूक्ष्म छानबीन करने का सूझता है। सुख-दुःख के द्वन्द्व में उसे नित्य सुख की दिशा सूझती है। दुराचार के तूफानी भँवर में से उसे शांत, गंभीर सत्त्वगुणी गंगा के प्रवाह में अवगाहन करने की समझ आने लगती है। विचार-सदविचार की कुशलता आती है। विचार, इच्छा, कर्म आदि में शुभ को पहचानने की सूझबूझ बढ़ती है। जिससे शुभेच्छा, शुभ विचार एवं शुभकर्म होने लगते हैं।

जन्म मरण जैसे द्वन्द्वों के स्वरूप अर्थात् संसार-चक्र एवं कर्म के रहस्य को समझाते हुए एवं उसी को अशुभ बताते हुए गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं।

तरो कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

'वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभांति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभ से अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएगा।'

(गीताः 4.16)

धर्म के, पुण्य के नाम अलग-अलग हैं किन्तु उनका मूल है सत्त्व। सत्त्वगुणरूपी जड़ का सिंचन होने से जो विशाल वृक्ष होता है उसमें मीठे फल लगते हैं। वे ही फल आंतरिक सुख, स्वतंत्र सुख, मुक्तिदायी सुख का मार्ग खोल देते हैं। यह जीव गुणों के थपेड़े से बचकर ही अपने गुणातीत स्वरूप में स्थिर हो सकता है एवं आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। जिसके ध्यान से ब्रह्माजी, भगवान विष्णु एवं साम्बसदाशिव भी सामर्थ्य एवं अनोखा आनंद पाते हैं उसी चैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए आपका जन्म हुआ है इसका निरंतर स्मरण रखना।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आधि-व्याधि से मुक्ति

श्रीराम जी ने पूछाः "हे मुनिश्रेष्ठ ! शरीर में व्याधियाँ एवं मन में आधियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं?"

वशिष्ठजी ने कहाः "प्रिय रामचंद्र जी ! मन की इच्छा-वासनाओं एवं चिन्ताओं से आधि उत्पन्न होती हैं एवं वात, पित्त, तथा कफ इन दोषों के असंतुलन से व्याधि उत्पन्न होती है।"

हमारे शरीर में हजारों सामान्य नाड़ियाँ हैं। उनमें अन्न रस आदि की अत्यंत अधिकता अथवा न्यूनता से सामान्य रोग होते हैं एवं सौ मुख्य नाड़ियाँ है जिनमें विलासिता एवं अन्य मानसिक कारणों से मलिनता भरने से बड़े रोग होते हैं। आधि यह मन का रोग हो एवं व्याधि तन का रोग है। यह जीव कभी आधि अर्थात् मन की चिंता, भय, शोक आदि से तो कभी व्याधि से दुःख पाता रहता है। दुःख के रूपान्तरण को ही वह बेचारा सुख मान लेता है जिससे पुनः सुख के नाम पर दुःख ही भोगता रहता है।

तन की व्याधि और मन की आधि कम-ज्यादा मात्रा में सभी को रहती है परंतु जो परम पुरुषार्थी आधि-व्याधि की जड़ को ढूँढकर उसे उखाड़ देता है उसकी आधि-व्याधि लंबे समय तक नहीं टिक सकती । अमुक वस्तु, अमुक स्थिति, अमुक धन, रूप-लावण्य, पद-प्रतिष्ठा वगैरह की इच्छा से मन में आधि आती है, मन चिंतित होता है। सामान्य चिंतित होता है तो सामान्य नाड़ियों पर प्रभाव पड़ता है और विशेष चिंतित होता है तो विशेष नाड़ियों पर प्रभाव पड़ता है। जीव जब अग्नि से पकाया हुआ भोजन ग्रहण करता है तब जठराग्नि उसे पुनः भीतर पकाती है एवं उसमें से बनने वाला रस रसवाहिनियों एवं रक्तवाहिनियाँ ग्रहण करती हैं तथा शरीररूपी यंत्र को चलाती हैं किन्तु जब मन में चिंता, भय, शोक होते हैं तब नाड़ियों में क्षोभ होता है जिससे नाड़ी-समूह अपनी कार्यक्षमता खो बैठता है। यही कारण है कि पशु अथवा दुर्बल मन के मनुष्यों को जब भय होता है तो उनकी नाड़ियाँ अपनी कार्यक्षमता खो बैठती हैं एवं उनके मल-मूत्र का विसर्जन हो जाता है।

अंतःकरण में नश्वर वस्तुओं के राग को वासना कहते हैं। यह वासना ही आसक्ति एवं प्रियता का रूप धारण करके बंदर की तरह आठ प्रकार के सुखों की आशा, तृष्णा एवं ममता में कूदती रहती है। जीव अपने वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण इन आधियों का कई जन्मों से शिकार होता आया है।

कई बार प्रदोषकाल में किये गये भोजन, मैथुन आदि से, अशुद्ध अन्न, अपवित्र संपर्क से अथवा ऋतु के बदलने से व्याधि उत्पन्न होती है। जो आधि का शिकार हो उसे व्याधियाँ ज्यादा सताती हैं। कई बार पहले व्याधि होती है फिर आधि होती है और कई बार आधि के कारण व्याधि होती है। कइयों के जीवन में तो दोनों साथ ही डेरा डालकर बैठी होती हैं।

जो व्याधियाँ आधि के बिना उत्पन्न होते हैं उन्हें आयुर्वेदिक उपचार, होम्योपैथी, प्राकृतिक उपचार, मंत्र, आशीर्वाद, जप, ध्यान, प्राणायाम, योगासन आदि से दूर किया जा सकता है। आधि को ईश्वरार्पित कर्मों से, संत्संग से एवं साधु-समागम से कम किया जा सकता है। शरीर के रोगनिवारण के लिए तो अनेकों चिकित्सालय, औषधालय, डॉक्टर, हकीम, वैद्यादि की व्यवस्था मिल जाती है किन्तु मन के रोग को दूर करने के लिए ऐसी जगह बड़ी मुश्किल से कहीं-कहीं ही प्राप्त होती है। आधि एवं व्याधि जिस अविद्या अर्थात् आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न होती है उस अविद्या को निवृत्त करने का स्थल तो उससे भी दुर्लभ है, विरला है। शरीर की व्याधि तो एक बार मिटती है तो पुनः हो जाती है, मन की आधि भी मिटकर पुनः हो जाती है किन्तु इन दोनों का कारण आत्म-अज्ञान यदि मिटता है तो यह जीव अपने शिव स्वभाव का अनुभव करके मुक्ति का आनंद पा सकता है। फिर उसे आधि नहीं सताती और व्याधि भी बहुत नहीं होती। कभी प्रारब्ध वेग से शरीर में व्याधि आ भी गयी हो तो वह उसके चित्त पर प्रभाव नही डाल पाती, जैसे कि रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि जैसे जीवन्मुक्त महापुरुषों के चित्त पर दर्दनाक रोग का भी प्रभाव न पड़ा।

शरीर की व्याधि मिटाने के लिए जितनी सतर्कता जरूरी है उसकी आधि सतर्कता मन के रोग को निवृत्त करने की हो तो तन-मन दोनों स्वस्थ रहते हैं। उससे भी कम मेहनत यदि आधि-व्याधि में फँसाने वाली अविद्या को मिटाने के लिए की जाय तो जीव सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

अज्ञान के कारण अपने मन-इन्द्रियों पर संयम नहीं रहता, फलस्वरूप चित्त भी रात-दिन राग-द्वेष से प्रेरित होकर 'यह मिला...... यह न मिला.....' करके मोहग्रस्त हो जाता है। अनेक इच्छाओं के उत्पन्न होने से, अविद्या से, चित्त को न जीतने से, अशुद्ध आहार के सेवन से, संध्याकाल एवं प्रदोषकाल में भोजन तथा मैथुन करने से, श्मशान आदि खराब स्थानों पर घूमने से, दुष्ट कर्मों का चिंतन करने से, दुर्जनों के संग से, विष, सर्प, सिंह आदि का भय होने से, नाड़ियों में अन्न-रस न पहुँचने अथवा अधिक पहुँचने से उत्पन्न कफ-पित्तादि दोषों से, प्राणों के व्याकुल होने से एवं इसी प्रकार के अन्य दोषों से शरीर में व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

अब ये आधि और व्याधि किस तरह नष्ट हो सकती हैं, वह देखें।

आधि दो प्रकार की होती हैः एक सामान्य एवं दूसरी जटिल। भूख-प्यास एवं स्त्री-पुत्रादि की इच्छा आदि से उत्पन्न आधि सामान्य मानी जाती है एवं जन्मादि विकार देने वाली वासनामय आधि जटिल कहलाती है। अन्न जल एवं स्त्री-पुत्रादि इच्छित वस्तु मिल जाने से सामान्य आधि नष्ट हो जाती है एवं आधियों के नष्ट हो जाने से मानसिक रोग भी नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार रज्जु में अज्ञान से हुई सर्प की भ्रांति रज्जु के वास्तविक ज्ञान हुए बिना नहीं मिटती वैसे ही आत्मज्ञान के बिना जन्म-मरण को उत्पन्न करने वाली जटिल वासनामय आधि भी नहीं मिटती। जिस प्रकार वर्षा ऋतु की नदी किनारे के सभी वृक्षों को उखाड़ देती है वैसे ही

यदि जन्म-मरण की जटिल आधि नष्ट हो जाय तो वह सब आधि-व्याधियों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकती है।

कई बार आधि के द्वारा व्याधि उत्पन्न होती है। कैसे ? चित्त यदि विषाद, चिंता, भय आदि से ग्रस्त हो तो उसका असर शरीर पर भी पड़ता है, परिणामस्वरूप शरीर में व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

इन्द्रियाणां मनोनाथः मननाथस्तु मारूतः।

इन्द्रियों का स्वामी मन है। मन का स्वामी प्राण है। प्राण यदि क्षुभित होते हैं तो नाड़ियाँ अपनी कार्यक्षमता खो बैठती हैं, जिससे व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी व्याधियों को दूर करने में मंत्रजाप, साधुसेवा, पुण्यकर्म, तीर्थस्नान, प्राणायाम, ध्यान, सत्कृत्य आदि सहायक है। इनसे आधियाँ दूर होती हैं एवं आधियों के दूर होने से उनसे उत्पन्न व्याधियां भी मिट जाती हैं।

शांत चित्त में सत्त्वगुण बढ़ने से तन एवं मन के रोग दूर होते हैं। सुख की लालसा एवं दुःख के भय से मन अपवित्र होता है। सुखस्वरूप परमात्मा का ध्यान किया जाय एवं दुःखहारी श्रीहरि की शरण सच्चे हृदय से ग्रहण की जाय तो आधि व्याधि की चोटें ज्यादा नहीं लगतीं। प्रेम ईश्वर से करे एवं इच्छा संसार की रखे अथवा प्रेम संसार से करे एवं इच्छा ईश्वर की रखे ऐसा मनुष्य उलझ जाता है परंतु जो बुद्धिमान है वह ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा से ही ईश्वर को प्रेम करता है। उसकी सांसारिक परिस्थितियाँ प्रारब्धवेग से चलती रहती हैं। लोकदृष्टि से सब प्रवृत्तियाँ करते हुए भी उसकी गौण एवं मुख्य दोनों वृत्तियाँ ईश्वर में ही रहती हैं। वह ईश्वर को ही प्रेम करता है एवं ईश्वर को ही चाहता है। ईश्वर नित्य है अतः उसे विनाश का भय नहीं होता। ईश्वर सदा अपने आत्मरूप है अतः उस विवेकी को वियोग का संदेह भी नहीं रहता। अतः आप भी ईश्वर की इच्छा करें एवं ईश्वर से ही प्रेम करें, इससे भय एवं संदेह निश्चिंतता एवं शुद्ध प्रेम में परिणत हो जायेंगे।

जैसे हाथी के पानी में गिरने पर क्षोभ के कारण पानी उछलता है, जैसे बाण से बिंधा हुआ हिरण मार्ग में गति करने लगते हैं। सब नाड़ियाँ कफ-पित्तादि दोषों से भर जाने के कारण विषमता को प्राप्त होती हैं। प्राणों के द्वारा नाड़ीतंत्र के क्षुब्ध होने पर कई नाड़ियाँ अन्न-रस से पूरी भर जाती हैं तो कई नाड़ियाँ बिल्कुल खाली रह जाती हैं। प्राण की गति बदल जाने से या तो अन्न-रस बिगड़ जाता है या अन्न न पचने के कारण अजीर्ण हो जाता है अथवा अन्न-रस अत्यंत जीर्ण हो जाता है, सूख जाता है जिससे शरीर में विकार उत्पन्न होता है।

जैसे नदी का प्रवाह लकड़ी, तिनखों आदि को सागर की ओर ले जाता है वैसे ही प्राणवायु खाये गये आहार को रसरूप बनाकर भीतर अपने-अपने स्थानों में पहुँचा देती है। परंतु जो अन्न प्राणवायु की विषमता के कारण शरीर के भीतरी भाग में कहीं अटक जाता है वह स्वाभाविक रूप से कफ आदि धातुओं को बिगाड़कर व्याधियाँ उत्पन्न करता है।

इस प्रकार आधि से व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं और आधि के मिट जाने पर व्याधियाँ भी नष्ट हो जाती हैं।

श्री वशिष्ठजी कहते हैं- "हे रामचंद्र जी ! जैसे हरड़े स्वभाव से ही जुलाब लगा देती है वैसे मंत्रादि के उच्चारण से, आरोग्य-मंत्र का श्रद्धा पूर्वक जप करने से आधि-व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। जैसे कसौटी पर कसने से स्वर्ण अपनी निर्मलता प्रगट कर देता है वैसे ही शुभकर्म या पुण्यकर्म करने से तथा सत्पुरुषों की सेवा करने से चित्त निर्मल हो जाता है। जैसे पूर्ण चंद्र का उदय होने से जगत में प्रकाश बढ़ता है वैसे ही चित्त शुद्ध होने से आरोग्य एवं आनंद बढ़ने लगता है। चित्त के शुद्ध रहने से प्राणवायु अपने क्रमानुसार ही संचार करती है एवं आहार को ठीक से पचा देती है जिससे नष्ट होती है।"

हमें यही दृष्टिगोचर होता है कि हम बाह्य उपचारों में ही अपने समय-शक्ति का ह्रास कर देते हैं फिर भी व्याधियों से निवृत्त होकर आनंद एवं शांति प्राप्त नहीं कर पाते। जबकि चित्तशुद्धि के मार्ग से व्याधियों के दूर होने पर आनंद एवं शांति प्राप्त होती है। देश के लोग यदि श्री वशिष्ठ मुनि के इन उपायों को अमल में लायें तो कितनी श्रम-शक्ति बच जाय एवं मनुष्य आरोग्य एवं दीर्घायु प्राप्त कर सके !

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

मानव धर्म

'मानव' शब्द का अर्थ है मनु की संतान। 'मनु' शब्द का मूल है - मनन। **मननात् मनुः।** मनु की पत्नी है शतरूपा। मानवजीवन में ज्ञान की पूर्णता एवं श्रद्धा अनेक रूपों में प्रगट होती है। कहीं आँखों से प्रगट होती है, कहीं हाथ जोड़ने से प्रगट होती है, कहीं सिर झुकाने से, कहीं बोलने से और कहीं आदर देने से प्रगट होती है। श्रद्धा ज्ञान की सहचारिणी है। कभी अकेला ज्ञान शुष्क हो जाता है तो श्रद्धा ज्ञान को मधुरता प्रदान करती है, सदभाव प्रदान करती है, भक्ति प्रदान करती है।

जीवन में न शुष्क ज्ञान चाहिए और न ही अज्ञानपूर्ण श्रद्धा। श्रद्धा में चाहिए तत्त्वज्ञान एवं संयम तथा ज्ञान में चाहिए श्रद्धा। मनु एवं शतरूपा के संयोग से बनता है मानव। मानव के जीवन में चाहिए ज्ञान एवं श्रद्धा का समन्वय। केवल श्रद्धा की प्रधानता से वह अंधा न बने और केवल ज्ञान की प्रधानता से वह उद्दण्ड और उच्छृंखल न बने - इस हेतु दोनों का जीवन में होना अनिवार्य है।

शास्त्रों में आया है कि सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ है किन्तु केवल इतने से ही आप मान लो कि 'हाँ, हम वास्तव में मानव हैं एवं इतर (अन्य) प्राणियों से श्रेष्ठ हैं' - यह पर्याप्त नहीं है।

इस श्रेष्ठता को सिद्ध करने की जवाबदारी भी मानव के ऊपर है। केवल दस्तावेज के बल पर कोई मनुष्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता। उसे तो अपनी जीवन-शैली एवं रहन-सहन से साबित करना पड़ता हैः "मैं मानव हूँ, मानव कहलाने के लिए ये गुण मेरे जीवन में हैं और मानवता से पतित करने वाले इन-इन दुर्गुणों से मैं दूर रहता हूँ।"

यहाँ हम मानवता में जो दोष प्रविष्ट हो जाते हैं, उनकी चर्चा करेंगे। 'मनुस्मृति' कहती है कि मानवजीवन में दस दोष का पाप नहीं होने चाहिए - चार वाणी के पाप, तीन मान के पाप एवं तीन शरीर के पाप। अब क्रमानुसार देखें।

वाणी के चार पापः

परुष भाषण अर्थात् कठोर वाणीः कभी-भी कड़वी बात नहीं बोलनी चाहिए। किसी भी बात को मृदुता से, मधुरता से एवं अपने हृदय का प्रेम उसमें मिलाकर फिर कहना चाहिए। कठोर वाणी का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

गुरु ने शिष्य को किसी घर के मालिक की तलाश करने के लिए भेजा। शिष्य जरा ऐसा ही था - अधूरे लक्षणवाला। उसने घर की महिला से पूछाः

"ए माई ! तेरा आदमी कहाँ है ?"

महिला क्रोधित हो गयी और उसने चेले को भगा दिया। फिर गुरुजी स्वयं गये एवं बोलेः

"माता जी ! आपके श्रीमान् पतिदेव कहाँ है ?"

उस महिला ने आदर के साथ उन्हें बिठाया एवं कहाः "पतिदेव अभी घर आयेंगे।"

दोनों ने एक ही बात पूछी किन्तु पूछने का ढंग अलग था। इस प्रकार कठोर बोलना यह वाणी का एक पाप है। वाणी का यह दोष मानवता से पतित करवाता है।

अनृत अर्थात् अपनी जानकारी से विपरीत बोलनाः हम जो जानते हैं वह न बोलें, मौन रहें तो चल सकता है किन्तु जो बोलें वह सत्य ही होना चाहिए, अपने ज्ञान के अनुसार ही होना चाहिए। अपने ज्ञान का कभी अनादर न करें, तिरस्कार न करें। जब हम किसी के सामने झूठ बोलते हैं तब उसे नहीं ठगते, वरन् अपने ज्ञान को ही ठगते हैं, अपने ज्ञान का ही अपमान करते हैं। इससे ज्ञान रूठ जाता है, नाराज हो जाता है। ज्ञान कहता है कि 'यह तो मेरे पर झूठ का परदा ढाँक देता है, मुझे दबा देता है तो इसके पास क्यों रहूँ ?' ज्ञान दब जाता है। इस प्रकार असत्य बोलना यह वाणी का पाप है।

पैशुन्य अर्थात् चुगली करनाः इधर की बात उधर और उधर की बात इधर करना। क्या आप किसी के दूत हैं कि इस प्रकार संदेशवाहक का कार्य करते हैं ? चुगली करना आसुरी संपत्ति के अंतर्गत आता है। इससे कलह पैदा होता है, दुर्भावना जन्म लेती है। चुगली करना यह वाणी का तीसरा पाप है।

असम्बद्ध प्रलाप अर्थात् असंगत भाषणः प्रसंग के विपरीत बात करना। यदि शादी-विवाह की बात चल रही हो तो वहाँ मृत्यु की बात नहीं करनी चाहिए। यदि मृत्यु के प्रसंग की चर्चा चल रही हो तो वहाँ शादी-विवाह की बात नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार मानव की वाणी में कठोरता, असत्यता, चुगली एवं प्रसंग के विरुद्ध वाणी - ये चार दोष नहीं होने चाहिए। इन चार दोषों से युक्त वचन बोलने से बोलनेवाले को पाप लगता है।

मन के तीन पापः

परद्रव्येष्विभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।।

दूसरे के धन का चिंतन करनाः दूसरे के पास इतना सारा धन है ! उसे कैसे हड़प कर लें ? इसका चिन्तन न करें। वरन् स्वयं परिश्रम करें, द्रव्य उत्पन्न करें, आदान-प्रदान करें, विनिमय करें। दूसरे के धन की चिन्ता करते रहोगे तो मन जलने लगेगा। परिणामस्वरूप न जाने वह कैसा कुकर्म करवा दे ! दूसरे के धन-वैभव का चिंतन करना यह मानसिक पाप है, इससे बचना चाहिए

दूसरे के अनिष्ट का चिंतन करनाः ऐसा मत समझना कि केवल मन में ऐसा विचारने से कोई पाप नहीं लगता। नहीं, मन में दूसरे के नुक्सान का विचार करने से भी पाप लगता है क्योंकि मन में संकल्प होता है तब उसका मंथन भी होने भी लगता है। शरीर में भी वैसे ही रसायन बनने लगते हैं एवं वैसी ही क्रियाएँ भी होने लगती हैं। किसी के लिए अनिष्ट विचार आया तो समझो आपके मन में पाप का बीज बो दिया गया ! वह अंकुरित होकर धीरे-धीरे वृक्ष का रूप भी ले सकता है, आपको पापपरायण बना सकता है। अतः किसी को तकलीफ हो ऐसा मन में विचार तक नहीं करना चाहिए। यह मानसिक पाप है, इससे सावधानीपूर्वक बचना चाहिए।

वितथाभिनिवेशः जो बात हम नहीं जानते उसे सत्य मानकर चलना। ऐसी मान्यता बना लेना यह मन का तीसरा पाप है।

सत्य क्या है ? **अबाधित्वं सत्यत्वं।** जिसका कभी बाध न हो वह है सत्य। हम उस सत्य को नहीं जानते किंतु जानने का दावा करने लग जाते हैं। आत्मारामी संतों का अनुभव ही सचोट होता है, बाकी तो सब लोग मन-इन्द्रियों के जगत में अपने-अपने मत-पंथ-मजहब को महत्त्व देकर अपनी मान्यता पुष्ट करते हैं। सत्य मान्यताओं के आधार पर नहीं टिका होता परंतु जो तमाम मान्यताएँ मानता है उस मन को जहाँ से सत्तास्फूर्ति मिलती है वह है अबाधित सत्यस्वरूप आत्मदेव। उसी में महापुरुष विश्रांति पाये हुए होते हैं एवं उन महापुरुषों के वचन प्रमाणभूत माने जाते हैं जिन्हें शास्त्र 'आप्तवचन' कहते हैं।

जिस धर्म में ऐसे ब्रह्मवेत्ताओं का मार्गदर्शन नहीं लिया जाता, उस धर्म-संप्रदाय के लोग जड़ मान्यताओं में ही जकड़कर जिद्दी एवं जटिल हो जाते हैं। यह जिद और जटिलता मन का तीसरा दोष है। दूसरे को तुच्छ मानता, जिद्दी एवं जटिल रहना यह इस दोष के लक्षण हैं।

शरीर के तीन पापः

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शरीरं त्रिविधं स्मृतम्।।

'पराये हक का लेना, अवैधानिक हिंसा करना, पर-स्त्री का संग करना - ये तीन शारीरिक पाप कहे जाते हैं।'

लोभकृत पापः आपके पास जो भी चीज है, वह आपके हक की होनी चाहिए। पिता-पितामह की तरफ से वसीयत के रूप में मिली हो, अपने परिश्रम से न्यायपूर्वक प्राप्त की हो, खरीदी हो, किसी ने दी हो अथवा किसी राज्य पर विजय हासिल कर प्राप्त की हो तो भी ठीक है। किंतु किसी की वस्तु को उसकी अनुमति अथवा जानकारी के बिना ले लेना यह शारीरिक पाप है। जो वस्तु आपके हक की नहीं है, जो आपको दी भी नहीं गयी है ऐसी दूसरे की वस्तु को हड़प लेना यह लोभकृत पाप है।

क्रोधकृत पापः *हिंसा चैवाविधानतः।* जो धर्मानुसार एवं संविधानुसार नहीं है ऐसे कृत्य का आचरण यह शारीरिक पाप है। जिससे अपनी और अपने पड़ोसी की, दोनों की लौकिक, पारलौकिक एवं आध्यात्मिक उन्नति हो, उसमें रूकावट न आये ऐसा कर्म धर्म है और ऐसे धर्म को भंग करना यह पाप है।

हिंसा दो प्रकार की होती हैः कानूनी और गैर-कानूनी। जब जल्लाद किसी को फाँसी पर लटकाता है, सैनिक आक्रमणकारी शत्रुदेश के सैनिक पर बंदूक चलाता है तो यह कानूनी हिंसा अपराध नहीं मानी जाती, वरन् उसके लिए वेतन दिया जाता है। हमारे शास्त्रीय संविधान के विरुद्ध जो हिंसा है वह हमारे जीवन में नहीं होनी चाहिए। मानवता को सुदृढ़ बनाने कि लिए, सुरक्षित रखने के लिए और गौरवान्वित करने के लिए हमारे जीवन से, वाणी से, सकल्प से किसी को कष्ट न हो इसका ध्यान रखना चाहिए। हम जो करें, जो कुछ बोलें, जो कुछ लें, जो कुछ भोगें, उससे अन्य को तकलीफ न हो इसका यथासंभव ध्यान रखना चाहिए। यह मानवता का भूषण है।

कामकृत पापः पर-स्त्री के साथ संबंध यह कामकृत पाप है।

न ही दृशं अनावेश्यं लोके किंचन विद्यते।

पर स्त्री के साथ संबंध से बढ़कर शरीर को रोग देने वाला, मृत्यु देने वाला, आयुष्य घटाने वाला अन्य कोई दोष नहीं है। मानव की मर्यादा का यह उल्लंघन है। यह मर्यादा मानव की खास-विशेषता है। पशु, पक्षी, देवता अथवा दैत्यों में यह मर्यादा नहीं होती।

जैसे लोभ एक विकार है, क्रोध एक विकार है, वैसे ही काम भी एक विकार है। यह परंपरा से आता है। माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी के मन में भी यह था। इस प्राकृतिक प्रवाह को मर्यादित करने का उपाय अन्य किसी योनि में नहीं है। मनुष्य जीवन में ही उपाय है कि विवाह संस्कार के द्वारा माता-पिता, सास-ससुर एवं अग्नि को साक्षी बनाकर विवाह का संबंध जोड़ा जाता है। उस विवाह के बाद ही पति-पत्नी यज्ञ के अधिकारी होते हैं। 'पत्नी' शब्द का भी इसी अर्थ में उपयोग किया जाता है - **'त्युनो यज्ञसंयोग।'** यज्ञ में, धर्मकार्य में जो सहधर्मिणी हो, सहभागिनी हो वह है पत्नी। यह पवित्र विवाह संस्कार धर्म की दृष्टि से मानव को सर्वोत्कृष्ट, संयमी एवं मर्यादित बनाता है। जिससे मानवता की सुरक्षा होती है उस आचार, विचार, विधि, संस्कार एवं मर्यादा का पालन मानव को अवश्य करना चाहिए। मर्यादा अर्थात् क्या ? **'मर्यि'** अर्थात् मानव जिसे धर्मानुसार, ईश्वरीय संविधान के अनुसार आत्म-दृष्टि से, मानवता की दृष्टि से अपने जीवन में स्वीकार करे। जिसमें कोई मर्यादा नहीं है वह मर्यादाहीन जीवन मनुष्य जीवन नहीं, पशु जीवन कहलाता है।

यहाँ हमने मानवता को दूषित करने वाली चीजों की मीमांसा की। उनसे सावधानीपूर्वक बचना चाहिए। अब मनुष्यता को उज्जवल करने वाली बातों के विषय में विचार करेंगे। इन बातों को, मानवता की इन विशेषताओं को समझे। धर्म को कहीं से उधार नहीं लेना है अपितु वह हमारे ही अंदर स्थित है, उसे प्रगट करना पड़ता है। हीरे में चमक बाहर से नहीं भरनी पड़ती, किंतु हीरे को घिसकर उसके भीतर की चमक को प्रगट करना पड़ता है।

धर्म में चार बातें-

अनुशासनः धर्म में पहली बात यह है कि वह मनमाना नहीं होना चाहिए। शास्त्र एवं गुरु के अनुशासन के बिना जिसे अपने मन से ही धर्म मान लेते हैं वह धर्म अहंकार बढ़ाने वाला होता है एवं गलत मार्ग पर ले जाता है। अभिमान ऐसे ही गलत मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। मनमुख होकर स्वीकार किया गया धर्म सफलता मिलने पर अहंकार बढ़ाता है और असफलता मिलने पर दूसरों पर दोषारोपण की कुबुद्धि जगाता है।

धर्म में अनुशासन होना अत्यंत जरूरी है। वह अनुशासन चाहे शास्त्र का हो, सदगुरु का हो, माता-पिता का हो या अन्य किसी सुज्ञ हितैषी का हो लेकिन होना जरूर चाहिए। किसी के अनुशासन में कोई कार्य किया जाता है तो सफलता मिलने पर अधिमान नहीं आता और विफल होने पर दूसरों पर दोषारोपण की कुबुद्धि नहीं जगती।

आश्रयः धर्म में दूसरी बात है आश्रय की। ईश्वर का आश्रम लेकर जिस धर्म का आचरण करेंगे उससे हमारी क्रियाशक्ति बनी रहेगी, क्षीण नहीं होगी। किसी बड़े का आश्रय न हो तो मन में सफलता के विषय में शंका उठती है, कार्य पूर्ण होने में संदेह होता है। कार्य के परिणाम में संदेह उठने से निष्क्रियता आ जाती है, हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः अनुशासन के साथ-साथ धर्म में ईश्वर एवं सदगुरु का आश्रय आवश्यक है।

संयमः धर्म में तीसरी बात आती है - अमर्यादित रूप से बढ़ती हुई वासना को रोकना अर्थात् संयम करना। जो लोग अपने जीवन में बिना किसी मर्यादा के वासना बढ़ा देते हैं, वे बड़े दुःखी हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, किसी की वार्षिक आय एक लाख रूपये है। उसकी आय बढ़ी तो वासना बढ़ी और खर्च के रंग-ढंग भी बढ़े। वार्षिक व्यय तीन लाख तक पहुँचा जबकि आय डेढ़ लाख हो गयी थी। तीन लाख का व्यय डेढ़ लाख पर लाना कठिन हो गया। अतः आशा एवं इच्छा के पैर धीरे-धीरे पसारने चाहिए। एकाएक ऐसी आशा न करें जिससे आधा कार्य होने पर सुख मिलने की जगह आधा कार्य न होने का दुःख सताने लगे।

कर्म की उत्तमताः धर्म में चौथी महत्वपूर्ण बात हैः "मैं ही धर्म पूरा कर लूँगा।" ऐसा मानकर किसी धर्म का प्रारंभ न करें। "मैं ही करूँगा, मेरे भाई करेंगे, मेरी संतानें करेंगी। कोई उत्तम धर्मकार्य मेरे द्वारा पूर्ण हो जाय तो अच्छी बात है। वह कार्य किन्हीं अन्य लोगों के द्वारा पूर्ण हो तो भी एषणीय है।" कोई कार्य 'केवल मेरे लिए ही अच्छा है' ऐसा निर्णय करके ही न करें। 'जो कोई जब भी यह कार्य करेगा तो वह कार्य उसके लिए भी अच्छा ही होगा।' इस प्रकार कर्म के स्वरूप की उत्तमता का बोध होना चाहिए।

स्वर्ग से गंगाजी को धरती पर लाना था। राजा अंशुमान ने पुरुषार्थ किया, कार्य पूरा न हुआ। अंशुमान के पुत्र ने कार्य चालू रखा किन्तु उनका भी जीवन पूरा हो गया। गंगाजी को पृथ्वी पर लाना - यह उत्तम कार्य था तो तीसरी पीढ़ी में भगीरथ ने यह कार्य पूरा किया। यदि राजा अंशुमान विचारते कि 'यह कार्य मेरे जीवनकाल में पूर्ण हो जाय, ऐसा नहीं है' तो कार्य का प्रारंभ ही न हो पाता।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना।
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।।

'कार्य में विघ्न आयेगा' ऐसे भय से कार्य का प्रारंभ ही न करना यह हीन पुरुष का लक्षण है। मध्यम पुरुष कार्य का प्रारंभ तो कर देता है किंतु बीच में विघ्न आने पर कार्य छोड़ देता है। उत्तम पुरुष का यह लक्षण है कि बार-बार विघ्न आये, आघात पड़े, घायल हो जाय फिर भी कार्य को अधूरा नहीं छोड़ता। उसकी दृष्टि में यदि कार्य उत्तम होता है तो बीच में आने वाले विघ्नों की वह कोई परवाह नहीं करता।

हम जो सत्कार्य करते हैं उससे हमें कुछ मिले - यह जरूरी नहीं है। किसी भी सत्कार्य का उद्देश्य हमारी आदतों को अच्छी बनाना है। हमारी आदते अच्छी बनें, स्वभाव शुद्ध, मधुर हो और उद्देश्य शुद्ध आत्मसुख पाने का हो। जीवन निर्मल बने इस उद्देश्य से ही सत्कार्य करने चाहिए।

किसी को पानी पिलायें, भोजन करायें एवं बदले में पच्चीस-पचास रूपये मिल जायें - यह अच्छे कार्य करने का फल नहीं है। अच्छे कार्य करने का फल यह है कि हमारी आदतें अच्छी

बनें। कोई ईनाम मिले तभी सुखी होंगे क्या ? प्यासे को पानी एवं भूखे को भोजन देना यह कार्य क्या स्वयं ही इतना अच्छा नहीं है कि उस कार्य को करने मात्र से हमें सुख मिले ? है ही। उत्तम कार्य को करने के फलस्वरूप चित्त में जो प्रसन्नता होती है, निर्मलता का अनुभव होता है उससे उत्तम फल अन्य कोई नहीं है। यही चित्त का प्रसाद है, मन की निर्मलता है, अंतःकरण की शुद्धि है कि कार्य करने मात्र से प्रसन्न हो जायें। अतः जिस कार्य को करने से हमारा चित्त प्रसन्न हो, जो कार्य शास्त्रसम्मत हो, महापुरुषों द्वारा अनुमोदित हो वही कार्य धर्म कहलाता है। मनु महाराज कहते हैं-

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।।

'जिससे अंतःकरण निर्मल हो, हृदय परितृप्त हो, उस कार्य को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए, उससे विपरीत कार्य का त्याग करना चाहिए।'

जिस प्रकार सरोवर में जा मिलने वाला गंदा पानी ठहरकर निर्मल हो जाता है, उसकी तरंगे शांत हो जाती हैं ऐसे ही सत्कृत्य करते-करते हमारा मन निर्मल होने लगता है, शांत होने लगता है - यह सबसे बड़ा फल है। कार्य के बदले में दूसरा कुछ पाने की इच्छा रखना यह घाटे का धंधा करने के समान है।

तात्पर्य यह है कि कर्म में अनुशासन होना चाहिए - यह है बुद्धि के लिए आश्रय। कर्म में बड़ों का सहारा होना चाहिए - यह है श्रद्धा के लिए आश्रय। कर्म को अच्छे ढंग से पूर्ण करना चाहिए। हम जो-जो कार्य करें, उसका हमें सतोंष होना चाहिए।

मानव जीवन कर्म एवं ज्ञान के समन्वय से ही ठीक से चलता है। हम आँख से देखते हैं वह ज्ञान है, पैर से चलते हैं वह कर्म हैं। हम जितना-जितना आगे देखेंगे उतना-उतना चल सकेंगे। जैसे-जैसे चलते जायेंगे, वैसे-वैसे आगे दिखता जायेगा। इस प्रकार कर्म एवं ज्ञान के समन्वय से ही जीवन-रथ परम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता रहता है। जीवन में केवल कर्म होगा तो जीवन यंत्रवत् बन जायेगा एवं केवल ज्ञान होगा तो जीवन में अकर्मण्यता आ जायेगी। अतः जीवन को यदि सही रूप से चलाना हो तो ज्ञान एवं कर्म का समन्वय करके चलाना चाहिए।

जीवन में इतनी भावुकता न आ जाय कि हम समझदारी से ही परे हो जायें ! जीवन में भावुकता भले रहे, प्रेम रहे, भक्ति रहे परंतु अति भावुकता, अति पक्षपात भले रहे, प्रेम रहे, भक्ति रहे परंतु अति भावुकता, अति पक्षपात न हो जिससे विवेक ही छूट जाय। विवेकशून्य होने से तो बड़ी हानि होती है। ऐसी बुद्धिहीन भावुकता तो पशुओं में भी दृष्टिगोचर होती है। अतः सदैव सावधानी एवं बुद्धिपूर्वक जीवन-सरिता का प्रवाह प्रवाहित होना चाहिए।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आत्म-संरक्षण का उपायः धर्म

बाहर की वस्तुओं को शुद्ध करने के लिए जो क्रिया होती है, उसे श्रम कहते हैं और हृदय को शुद्ध करने के लिए जो क्रिया होती है, उसे धर्म कहते हैं। बाह्य वस्तुओं के उत्पादन, परिवर्तन एवं परिवर्धन के लिए जो कर्म किये जाते हैं वह श्रम है और हृदय को पवित्र करने के लिए जो कर्म किये जाते हैं वह धर्म है। बाह्य वस्तुओं का गहन ज्ञान विज्ञान है और अतंस्तत्स्व विषयक गहरा ज्ञान तत्त्वज्ञान है।

प्राकृत वस्तुएँ स्वयँ अपने स्वाभाविक धर्म की रक्षा करती हैं। पृथ्वी पर कोई गंदगी डालो तो पृथ्वी उसे पचा लेगी, आत्मसात् कर लेगी उसी प्रकार जल, अग्नि, वायु एवं आकाश भी चीजों को पचा लेते हैं। आकाश शब्द को पचा लेता है, वायु स्पर्श को, अग्नि रूप को, जल रस को एवं पृथ्वी गंध को पचा लेती है। इसी से इन पाँच तत्त्वों को कोई पाप-पुण्य नहीं लगता। इनमें न तो 'मैं' है न 'मेरा', न कर्तृत्व है न भोक्तृत्व है। अपने स्वभाव में स्थित पेड़-पौधे, जीव-जंतु, पशु-पक्षियों को भी पाप-पुण्य नहीं लगता। नादान बच्चों को भी पाप-पुण्य नहीं लगता, पागलों को भी पाप-पुण्य नहीं लगता। पाप-पुण्य अथवा धर्म-अधर्म का संबंध सामान्य मनुष्यों के साथ ही है।

मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्तितौ।

मनुष्य जब अपने सत्वस्वरूप से विपरीत कुछ करता है तब उसका वह असत् कर्म अधर्म बन जाता है। जब वह अपने चित्तस्वरूप ज्ञान से विपरीत कुछ करता है तब उसकी वृत्ति अधार्मिक हो जाती है। जब वह अपने सुख एवं आनन्द के लिए दूसरे की हिंसा करने लगता है तब वह पापपरायण हो जाता है।

अमुक काम खराब है। यह जानने के बावजूद भी उसे करने से पाप लगता है। पागलों एवं छोटे बच्चों को ऐसा ज्ञान नहीं होता अतः उन्हें पाप भी नहीं लगता। अर्थात् किसी कर्म में पाप-पुण्य का निवास नहीं है। अपने कर्तृत्व में, अपनी बुद्धि में, अपनी कामना में ही पाप-पुण्य का, धर्म-अधर्म का निवास होता है। अतः मानव को खूब सावधान रहकर कर्म करना चाहिए। सामाजिक दृष्टि से भी धर्म अत्यंत उपयोगी है। आप कोई भी कार्य करें, धर्म उसमें विश्वसनीय लाता है। स्त्री धार्मिक हो तो उसके पिता, पति, पुत्र ही नहीं, वरन् अड़ोस-पड़ोस के लोग भी उस पर विश्वास रखेंगे। पुरुष धार्मिक होगा तो उसके साथ व्यवहार रखने वाले सभी लोग उस पर विश्वास रखेंगे कि यह झूठ नहीं बोलेगा, कपट नहीं करेगा, दगा नहीं देगा।

जब तक आप अपने को समाज में विश्वसनीय नहीं बनाओगे तब तक दूसरे लोग आपके साथ व्यवहार करने में हिचकिचायेंगे कि 'कहीं यह दगा न दे देवे।' विश्वसनीयता के बिना लोग पति, पत्नी, जमाई, सास, ससुर से भी डरते हैं। समाज में कोई भी कार्य करने के लिए विश्वासपात्र होना परम आवश्यक है। विश्वासपात्र बनते हैं धर्म से। आपका धर्म आपको काम-भोग

में बरबाद नहीं होने देगा और समाज में सुरक्षित रखेगा। जीवन में संयम - यह धर्म का सार है। मन में आये वहाँ चले न जाओ, मन में आये ऐसा काम न करो, मन में आये ऐसा ले न लो, मन में आये ऐसा खा न लो, मन में आये ऐसा बोल न दो और मन में आये ऐसा भोग न लो।

धर्म अर्थात् धारणा शक्ति। शास्त्र जिस धर्म का वर्णन करता है उसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस का कारण माना जाता है। **यतोऽभ्युदय निःश्रेयसः सिद्धिः सः धर्मः।** धर्म से लोक-परलोक में आपकी उन्नति होगी एवं समाज में बंधनों से मुक्त रहोगे।

धर्मात्मा के प्रति समाज में एव विश्वसनीयता प्रकट होती है। इससे धर्मात्मा के जीवन में अभ्युदय होता है। अभ्युदय अर्थात् क्या ? जैसे सूर्य के उदय होते ही वह वृद्धि की ओर आगे बढ़ता है वैसे ही मनुष्य के जीवन में जब धर्म आता है तब उसका सर्वतोन्मुखी विकास होता है। वह आंतरिक उन्नति के मार्ग पर प्रयाण करता है।

विपरीत से विपरीत परिस्थिति भी आये तब भी धर्म को न छोड़ो, धैर्य को न छोड़ो, ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित होकर, उतावलेपन में एवं घबराकर कोई कदम न उठाओ। यह धृति ही धर्म है। मान लो कि व्यापार में कुछ नुकसान हो गया तो उससे घबराकर कोई दूसरा कदम न उठाओ, नहीं तो ज्यादा नुकसान कर बैठोगे। जो नुकसान हुआ उसे धैर्यपूर्वक सहन कर लो एवं सोच विचारकर धीरजपूर्वक निर्णय करके आगे बढ़ो। यह धृति है, धर्म है।

किसी से कोई अपराध हो जाय तो आपको क्या करना चाहिए ? अपराध तो आपसे भी होता रहता है। ऐसा कौन है जिससे गलती न होती हो ? अपनी गलती एवं अपराधों के लिए क्या करते हो ? सहन कर लेते हो। ऐसे ही दूसरों की गलतियों एवं अपराधों को सहन करने की आदत डालनी चाहिए। किसी के बहकाने से बहकना या उत्तेजित नहीं होना चाहिए।

यदि आप दूसरे की संपत्ति की रक्षा करोगे तो लोग आपकी संपत्ति की भी रक्षा करेंगे। **धर्मो रक्षति रक्षितः।** दूसरों का माल हड़प करने लगोगे तो लोग भी आपका माल हड़प कर लेंगे।

पवित्रताः

शास्त्र कहते हैं पवित्र व्यक्ति पर वज्र भी गिरे तो उसका बाल बाँका नहीं कर सकता। **वज्रात् त्रायते इति पवित्रः।** जो पवि अर्थात् वज्र से भी रक्षा करे उसका नाम है पवित्र। वज्र पवित्र व्यक्ति का स्पर्श नहीं कर सकता।

हमारे धर्माचार की विधि है कि प्रातःकाल सूर्योदय से पहले उठें तब जरूरत लगे तो लघुशंका, शौचादि करके अथवा ऐसे ही थोड़ी देर तक बिस्तर पर बैठकर ब्राह्ममुहूर्त का सदुपयोग करें, पवित्र चिंतन करें क्योंकि सोते समय सभी वासनाएँ शांत हो जाती है एवं जागने के बाद धीरे-धीरे उदित होती हैं। प्रभातकाल में नींद उड़ी है, सांसारिक वासनाओं का उदय अभी नहीं हुआ है - ऐसे समय में यदि अपने आत्मस्वरूप का, परम सत्य परमात्मा का चिंतन करोगे तो खूब-खूब लाभ होगा। जैसे विद्युत के प्रवाह के साथ जुड़ते ही बैटरी चार्ज (आवेशित) हो जाती है ऐसे ही प्रातःकाल में अपने चित्त एवं जीवन को पवित्र करने वाले आत्मा-परमात्मा के साथ थोड़ा सा

भी संबंध जुड़ जाय तो हृदय में उसकी शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। वह जीवनशक्ति फिर दिन भर के क्रिया-कलापों में पुष्टि देती रहेगी।

प्रभात काल में यदि बहुत सुस्ती लगती हो, शरीर में अशुद्धि हो तो भले स्नान करके फिर आत्मचिंतन के लिए बैठो, परमात्म-स्मरण के लिए बैठो लेकिन नित्य कर्म के नाम पर दूसरी खटपट में नहीं पड़ना। सबसे पहले परमात्मा का ही चिंतन करना परमावश्यक है क्योंकि सबसे पवित्र वस्तु परमात्मा है। परमात्मा के चिंतन से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। यदि ब्राह्ममुहूर्त में 5-10 मिनट के लिए आत्मा-परमात्मा का ठीक स्मरण हो जाय तो पूरे दिन के लिए एवं प्रतिदिन ऐसा करने पर पूरे जीवन के लिए काफी शक्ति मिल जाय।

अपना शरीर यदि मलीन लगता हो तो ऐसा ध्यान कर सकते हैं-

"मेरे मस्तक में भगवान शिव विराजमान हैं। उनकी जटा से गंगाजी की धवल धारा बह रही है और मेरे तन को पवित्र कर रही है। मूलाधार चक्र के नीचे शक्ति एवं ज्ञान का स्रोत निहित है। उसमें से शक्तिशाली धारा ऊपर की ओर बह रही है एवं मेरे ब्रह्मरंध्र तक के समग्र शरीर को पवित्र कर रही है। श्री सदगुरु के चरणारविंद ब्रह्मरंध्र में प्रगट हो रहे हैं, ज्ञान-प्रकाश फैला रहे हैं।"

ऐसा ध्यान न कर सको तो मन-ही-मन गंगा किनारे के पवित्र तीर्थों में चले जाओ। बद्री-केदार एवं गंगोत्री तक चले जाओ। उन पवित्र धामों में मन-ही-मन भावपूर्वक स्नान कर लो। पाँच-सात मिनट तक पावन तीर्थों में स्नान करने का चिंतन कर लोगे तो जीवन में पवित्रता आ जायेगी। घर-आँगन को स्वच्छ रखने के साथ-साथ इस प्रकार तन-मन को भी स्वस्थ, स्वच्छ एवं भावना के जल से पवित्र करने में जीवन के पाँच-सात मिनट प्रतिदिन लगा दोगे तो कभी हानि नहीं होगी। इसमें तो लाभ ही लाभ है।

सूर्योदय से पूर्व अवश्य उठ जाना चाहिए। सूर्य हमें प्रकाश देता है। प्रकाशदाता का आदर नहीं करेंगे तो ज्ञानादाता गुरुदेव का भी आदर नहीं कर सकेंगे। सूर्योदय से पहले उठकर पूजा करने का अर्थ है ज्ञानादाता का आदर करना। पूजा अर्थात् अपने जीवन में सत्कार की क्रिया। यह मानव का कर्त्तव्य है। भगवान भास्कर, ज्ञानदाता सदगुरुदेव एवं देवी-देवताओं का आदर तो करना ही चाहिए। इतना ही नहीं, अपने शरीर का भी आदर करना चाहिए। शरीर का आदर कैसे करें ? नीतिशास्त्र में एक श्लोक आता हैः

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं
बह्वशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्मिते च शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्।।

"मैले वस्त्र पहनने वाले, दाँत गंदे रखने वाले, ज्यादा खाने वाले, निष्ठुर बोलने वाले, सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय सोने वाले स्वयं विष्णु भगवान हों तो उन्हें भी लक्ष्मी जी त्याग देती है।"

आदि नारायण स्वयं को गंदा देखें, मुँह में से दुर्गन्ध आने लगे, आलसी हो जायें तो लक्ष्मी जी उनसे तलाक ले लें। स्वच्छता एवं पवित्रता द्वारा लोगों की प्रीति प्राप्त करना, सुरुचि प्राप्त करना यह भी पूजा का, धर्म का एक अंग है। इसमें दूसरों की भी पूजा है एवं स्वयं की भी।

आहार शुद्धिः

भोजन में शुद्धि एवं पवित्रता होनी चाहिए। उपनिषदों में आया है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

आहार शुद्ध हो तो सत्त्व गुण की वृद्धि होती है। सत्त्वगुण बढ़ता है तो आत्मस्वरूप की स्मृति जल्दी होती है।

हम जो भोजन करते हैं वह ऐसा पवित्र होना चाहिए कि उसे लेने से हमारा मन निर्मल हो जाय। भोजन के बाद आलस एवं निद्रा आये ऐसा भोजन नहीं लेना चाहिए। शरीर उत्तेजना आ जाय ऐसा भोजन भी नहीं लेना चाहिए।

'श्रीमद् भागवत' भोजन के संबंध में तीन बातें स्पष्ट रूप से बतायी गयी हैं- **पथ्यम् पूतम् अनायास्यम्।** भोजन अपने शरीर के लिए पथ्यकारक हो, स्वभाव से एवं जाति से पवित्र हो तथा उसे तैयार करने में ज्यादा श्रम न पड़े। जरा विचार करो कि आप जो भोजन ले रहे हैं वह भगवान को भोग लगाने के योग्य है कि नहीं ? भले ही आप थाली परोस कर श्रीविग्रह के समक्ष न रखें, फिर भी भगवान सबके पेट में बैठकर खाते हैं। मात्र खाते ही नहीं पचाते भी हैं। गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापान समायुक्त पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

"मैं ही समस्त प्राणियों के शरीर में स्थित रहने वाला प्राण एवं अपान से युक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।'

(गीताः 15.14)

अतः आप जो वस्तु खाने वाले हो, वह भगवान को ही खिलाने वाले हो, वैश्वानर अग्नि में हवन करने वाले हो - यह समझ लो। होम करते समय हविष्य का हवन करते हैं उसी प्रकार भोजन का ग्रास मुख में रखते हुए भावना करो कि 'यह हविष्य है एवं पेट में स्थित जठराग्नि में इसका हवन कर रहा हूँ।' ऐसा करने से आपका वह भोजन हवनरूप धर्म बन जायेगा।

भोजन पवित्र स्थान में एवं पवित्र पात्रों में बनाया हुआ होना चाहिए। भोजन बनाने वाला व्यक्ति भी शुद्ध, स्वच्छ, पवित्र एवं प्रसन्न होना चाहिए। भोजन बनाने वाला व्यक्ति यदि रोता हो कि मुझे पूरा वेतन नहीं मिलता, माता भी दुःखी अवस्था में भोजन बनाती हो, गाय दुहने वाला

दुःखी हो, गाय भी दुःखी हो तो ऐसे भोजन एवं दूध से तृप्ति एवं शांति नहीं मिल सकती। मासिक धर्म में आयी हुई महिला के हाथ का भोजन चित्तप्रसाद के लिए अत्यंत हानिकारक है।

भोजन बनाने में उपयोग में आने वाली वस्तुएँ भी स्वभाव से एवं जाति से शुद्ध होनी चाहिए। मनुष्य की पाचन शक्ति पशुओं की पाचनशक्ति के समान नहीं होती। अतः मनुष्य का भोजन अग्नि में पकाया हुआ हो तो हितावह है। कई पदार्थ सूर्य, जल एवं वायु द्वारा पकाए हुए भी होते हैं। पका हुआ भोज्य पदार्थ पेट में आता है तो ठीक ढंग से पच जाता है। उसमें से रस उत्पन्न होता है जो मानव में शक्ति उत्पन्न करता है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भोजन हमारे हक का होना चाहिए। शास्त्रकार कहते हैं-

योऽर्थेशुचिः स शुचिः स्यान्न मृद्वारि शुचिः शुचिः।
सर्वेषामेव शौचनामर्थशौचं परं स्मृतम्।।

'केवल मिट्टी एवं पानी से शुद्ध की गयी वस्तु ही शुद्ध नहीं होती। अर्थशुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है अर्थात् पवित्र धन से प्राप्त हक की वस्तु ही शुद्ध मानी जाती है।'

अपने हक का भोजन करने वाले का जीवन पवित्र हो जाता है। अंतःकरण को पवित्र एवं निर्मल करने के लिए आहारशुद्धि पर ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है। अपनी संस्कृति संस्कार-प्रधान है, भोग-प्रधान या अर्थ-प्रधान नहीं। धन ही जीवन का सर्वस्व नहीं है। ऐसे संत-महात्मा एवं गृहस्थ भी देखने को मिलते हैं कि जिनके पास कुछ नहीं है, अकिंचन है फिर भी अत्यंत प्रसन्न हैं। वे कोई पागल नहीं हैं, पूरे स्वस्थ हैं, बुद्धिमान हैं। वित्त अथवा पदार्थों के बिना भी इतने प्रसन्न रहते हैं, इतने निर्मल चित्तवाले रहते हैं कि उनसे जो मिलता है वह भी प्रसन्न हो उठता है। जिन्हें स्पर्श करते हैं, जिन पर मीठी नज़र डालते हैं उनका जीवन भी मीठा-मधुर हो जाता है। इस प्रकार जीवन में चित्त की निर्मलता अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। संपत्ति सुख का कारण नहीं है, वरन् चित्त की निर्मलता सुख का कारण है। आपकी जेब में से कोई दो रूपये चुरा ले तो आपको अच्छा नहीं लगेगा किन्तु यदि आप अपने हाथों से दो लाख रूपये का दान करोगे तो मन निर्मल एवं प्रसन्न हो उठेगा। यदि धन-संपत्ति में ही सुख हो तो दान करने के बाद आपको पश्चाताप होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं है। जीवन में सुखी रहना चाहते हो तो अन्य पवित्रताओं के साथ धन की पवित्रता भी आवश्यक है।

अनुक्रम

सूक्ष्म आहारः

श्रीरामानुजाचार्य ने आहार शुद्धि के लिए बताया कि पवित्र स्थान, पवित्र पात्र एवं पवित्र वस्तु के साथ भोजन बनाने वाला व्यक्ति भी पवित्र होना चाहिए। भोजन अपने हक का होना

चाहिए। श्रीमद् आद्यशंकराचार्य ने इससे भी आगे बढ़कर सूक्ष्म बात कही कि भोजन मात्र मुँह से ही नहीं लिया जाता वरन् आँख, कान, नाक, त्वचा एवं मन से भी ग्रहण किया जाता है।

आहार्यन्ते इति आहारः।

'बाहर से भीतर लेना अर्थात् आहार'। हम कान से जो आहार करते हैं उसका भी शरीर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी की निंदा सुनते हैं तो पहले संशय होगा कि यह सच है या झूठ ? इस प्रकार निंदा सुनते ही मन में एक संशय, संदेह या शंका उत्पन्न होती है। कान से सुनी गयी निंदा दिल को संशय की भेंट देती है। दिल में संशय पैदा होने पर क्या होता है, यह सभी जानते हैं। गीता भी कहती हैः **नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।** जब मन में संशय आता है तब लोक परलोक, सुख शांति सब नष्ट हो जाता है। **संशयात्मा विनश्यति।**

कोई आपको किसी निंदा सुनाता है तब भले आप उसे सच्ची न मानो परंतु निंदा करने वाला आपके मन में संशय उत्पन्न कर देता है। शायद आप संशय को त्याग भी दो फिर भी निंदा करने वाले न आपके मन में तात्कालिक तो किसी के लिए घृणा या द्वेष भर ही दिया ! जिसके लिए घृणा हुई, द्वेष हुआ, वह व्यक्ति चाहे जैसा हो किंतु घृणा और द्वेष आये तो आपके ही मन में न ? निंदा-श्रवण ने आपके मन में घृणा और द्वेषरूपी गंदगी भर दी। घृणा से मन गंदा हो गया, द्वेष की अग्नि से हृदय जलने लगा। आपके कान में ऐसा आहार किया कि जिसने आपके दिल में संशय, घृणा और द्वेष भर दिया ! निंदक स्वयं कुसंगी है। वह अपना हृदय तो बिगाड़ता ही है, दूसरे में भी कुसंस्कार डालकर उसके हृदय को बिगाड़ता है। अतः सावधान ! आप जिस प्रकार भोजन करने में अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखते हो उसी प्रकार सुनने में भी अपने हृदय के स्वास्थ्य का ध्यान रखो।

स्पर्श भी त्वचा द्वारा किया जाने वाला एक आहार है। त्वचा वायु ग्रहण करती है, अग्नि ग्रहण करती है। शरीर को खुले आकाश में ले जाते हो तब सूर्य की किरणें आपके शरीर में प्रवेश करके आपका आहार बनती हैं। शुद्ध वायु में रहने से शरीर शुद्ध वायु का भोजन करता है। ऐसे वातावरण में रहो कि जहाँ शुद्ध प्रकाश एवं शुद्ध वायु मिलती रहे यह धर्म है।

किसी उत्तेजक वस्तु को स्पर्श न करें। आपनते हो कि बिजली के तार को छूने से प्राणों को खतरा है अतः उसे नहीं छूते। इसी प्रकार आपके मन में कामना उत्पन्न करे, क्रोध उत्पन्न करे, लोभ उत्पन्न करे ऐसी वस्तुओं का स्पर्श न करें। ऐसी वस्तुओं एवं व्यक्तिओं से अपने को सुरक्षित रखें।

आँख से किसी आकर्षक वस्तु को देखकर मन में लोभ जागता है। चीज तो बाहर पड़ी रहती है किंतु लोभ अंदर घर कर बैठता है। उस वस्तु को पाने के उपायों में बुद्धि लग जाती है और परिश्रम शुरु हो जाता है वह चीज आपको कंगाल बना देती है। आप मजदूरों की श्रेणी में आ जाते हो। आपकी आँख आपको ऐसी चीज खिलाती है कि आप अपने में अभाव एवं दीनता का अनुभव करने लगते हो।

इसी प्रकार नाक का आहार गन्ध है। अतः आहार शब्द से तात्पर्य केवल मुँह से लिये जाने वाले आहार से ही नही है, वरन् हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों से जो भी ग्रहण करते हैं वह सब भी हमारा आहार ही है। ये सभी आहार पवित्र होने चाहिए।

पवित्रता के संदर्भ में सावधान नहीं रहोगे तो आपका बड़ा अहित होगा। यह ठीक है कि अपने शरीर के विषय में आप खूब सावधान हो। क्या खाना, कितना खाना, कब खाना, कहाँ जाना, कैसे रहना, क्या पहनना-ओढ़ना, शरीर को कैसे स्वस्थ रखना- इन विषयों में आप बड़े सतर्क हो लेकिन अपने अंतःकरण पर आपका ध्यान कितना है ? बाहर की चीजें आपके साथ रहें या न रहें पर मन तो सदा आपके साथ ही रहता है। आपका मन यदि दुःखी होगा, अज्ञानयुक्त होगा, भय-शोकाग्रस्त होगा, ईर्ष्या-द्वेषग्रस्त होगा तो बाहर चाहे कितने ही सुख-सुविधाओं के साधन होंगे फिर भी आप सुखी न रह सकोगे। सुखी रहने की विद्या तो निराली है।

आप रोटी चुपड़ी हुई खाते हो कि सूखी, यह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु आपका मन कोरा नहीं रहना चाहिए। मन को तृप्त रखने के लिए, करूणा-रस के परिपूर्ण रखने के लिए दूसरों पर दया करनी चाहिए। दुःखियों पर दया करने के लिए मन द्रवित होना चाहिए। ऐसा कभी न सोचो कि आपका मन क्रूर हो जाये, दूसरे को दुःख देने वाला हो जाये। मन से जो भी सोचो वह ऐसा निर्मल होना चाहिए, जिससे आस-पास का वातावरण भी निर्मल हो जाय।

हम जैसा सोचते-विचारते हैं वैसा ही आभामंडल हमारे आस-पास बन जाता है। यह मंडल किसी का बड़ा होता है, किसी का छोटा किंतु भावनाओं एवं विचारों का परिमंडल होता है अवश्य। जैसे सूर्य एवं चन्द्र के आसपास कभी-कभार आभामंडल दिखायी देता है वैसे ही अपने शरीर से जो तन्मात्राएँ निकलती हैं, विचारों के सूक्ष्म कण प्रवाहित होते हैं वे हमें चारों ओर से घेरे रहते हैं। ये तन्मात्राएँ, विचारों की किरणें यदि सदभावों से संपन्न होती है, पवित्र होती हैं तो हमारे संपर्क में आनेवाले को, हमारे वातावरण में आनेवाले को भी पवित्र विचारों से संपन्न बना देती हैं।

अतः मन व अंतःकरण को पवित्र बनाना केवल अपने लिए ही नहीं, पूरे समाज के लिए, पूरे विश्व के लिए मंगलमय है। मन से, ज्ञानेन्द्रियों से ऐसा आहार ग्रहण करो कि जिससे जीवन में घृणा न आये, द्वेष न आये। मन को पवित्र रखने की पद्धति से ही धर्म है। हृदय की पवित्रता ही धर्म का वास्तविक स्वरूप है। जिससे हमारा अभ्युदय हो, वृद्धि हो, विकास हो एवं संसार बंधन से मुक्त हो जायें, उसका नाम है धर्म।

जीवन मे धर्म कैसे आये ? हमारे जीवन का जो परम ध्येय है उस ध्येय की पूर्ति के लिए हम जिस अनुशासन के अनुसार चलते हैं, वह धर्म है। धर्म अपने मन से नहीं आता। मनमुखता से तो दोनों तरफ से हानि ही है। अपने मन के अनुसार कार्य करने से सफलता मिलेगी तो अभिमान बढ़ेगा एवं असफलता मिलेगी तो विषाद बढ़ेगा। इस अभिमान और विषाद से बचने के लिए शास्त्र एवं सदगुरु के अनुशासन के अनुसार कार्य करना चाहिए। शास्त्र एवं

सदगुरु के अनुशासन के अनुसार चलने से कर्त्तव्य-पालन का सुख मिलता है, सफलता-असफलता पर दृष्टि नहीं रहती। इतना ही ख्याल रहता है कि मैंने आज्ञापालन करके अपना कर्त्तव्य निभाया। सफलता मिले या असफलता किन्तु कर्त्तव्य-पालन का सुख टिका रहेगा। यह सुख, यह चित्त का प्रसाद अनुशासन से ही प्राप्त होता है। यह अनुशासन ही धर्म है।

मा नो धर्मोऽवधीत्।

धर्म का हनन न करें, धर्म का वध न करें। धर्म का वध करेंगे तो धर्म आपका वध करेगा। धर्म को छोड़ देंगे तो धर्म हमें छोड़ देगा। जीवन में से धर्म के छूट जाने पर न सच्चरित्रता रहेगी, न सदबुद्धि और न ही आनंद रहेगा। धर्म के अभाव में इधर-उधर भटकना, चिंता करना, रोना पीटना, बीते हुए के लिए शोक करना एवं आने वाले संयोगों के लिए भयभीत होना ही बाकी रहेगा। अतः वर्त्तमान जीवन को सफल बनाने के लिए भी धर्म की जरूरत है। हमारे ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के लिए भी धर्म की जरूरत है।

बाह्य जीवन एवं स्थूल शरीर के विषय में सतर्कता होगी किन्तु सूक्ष्म शरीर के प्रति सतर्कता नहीं होगी तो स्थूल शरीर को चाहे कितना भी सजाओ-सँवारो परन्तु वह आनन्द नहीं दे सकेगा। अतः भैया ! हृदय की शुद्धि पर ध्यान दें। आपका अंतरतम चैतन्य आत्मा तो परम शुद्ध है, यदाकदा उस आत्म-सरोवर में डुबकी लगाकर आप भी शुद्ध होते रहो, तृप्त होते रहो, आनंदित रहो एवं अंत में अपने सत्-चित्-आनन्दस्वरूप का साक्षात्कार करके यहीं मुक्ति का अनुभव करो।

आप अपने जीवन का अदभुत मूल्य नहीं जानते इसीलिए तुच्छ इन्द्रियाँ आपको घसीट ले जाती हैं, तुच्छ चीजें आपको आकर्षित कर लेती हैं। हे भोले महेश ! आप अपने निजकेन्द्र में आओ, अपने पावन स्वरूप में जागो फिर सब पवित्र है।

मनु महाराज ने ईक्ष्वाकु राजा से कहाः "राजन ! तू नित्य अंतर्मुख रह। आत्मज्ञान पा, फिर, जिस वस्तु को छुएगा वह वस्तु पवित्र हो जायेगी। जिस व्यक्ति पर नज़र डालेगा वह व्यक्ति पवित्र हो जायेगा। जहाँ तू कदम रखेगा वह भूमि भी पावन हो जायेगी, ऐसा तेरा परम-पवित्र स्वतः सिद्ध स्वभाव है।"

हे साधक ! अपने ऐसे परम दिव्य आत्मस्वरूप से तू कब तक बेखबर रहेगा ? ॐ..... ॐ..... ॐ.....

शाबाश....! शाबाश....!! हिम्मत कर, सावधान रह, अपने स्वरूप को निहार !

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

आत्मश्रद्धा

मानवमात्र की सफलता का मूल उसकी आत्मश्रद्धा में निहित है। आत्मश्रद्धा का सीधा संबंध संकल्पबल के साथ है। तन-बल, मन-बल, बुद्धि-बल एवं आत्मबल ऐसे कई प्रकार के बल हैं, उनमें आत्मबल सर्वश्रेष्ठ है। आत्मबललल में अचल श्रद्धा यह विजय प्राप्त करने की सर्वोत्तम कुंजी है। जहाँ आत्मबल में श्रद्धा नहीं है वहीं असफलता, निराशा, निर्धनता, रोग आदि सब प्रकार के दुःख देखने को मिलते हैं। इससे विपरीत जहाँ आत्म बल में अचल श्रद्धा है वहाँ सफलता, समृद्धि, सुख, शांति, सिद्धि आदि अनेक प्रकार के सामर्थ्य देखने को मिलते हैं।

जैसे-जैसे मनुष्य अपने सामर्थ्य में अधिकाधिक विश्वास करता है, वैसे-वैसे वह व्यवहार एवं परमार्थ दोनों में अधिकाधिक विजय हासिल करता है। अमुक कार्य करने का उसमें सामर्थ्य है, ऐसा विश्वास और श्रद्धा-यह कार्यसिद्धि का मूलभूत रहस्य है।

मनुष्य अपनी उन्नति शीघ्र नहीं कर पाता इसका मुख्य कारण यही है कि उसे अपने सामर्थ्य पर संदेह होता है। वह 'अमुक कार्य मेरे से न हो सकेगा' ऐसा सोच लेता है। जिसका परिणाम यह आता है कि वह उस कार्य को कभी करने का प्रयत्न भी नहीं करता। आत्मश्रद्धा का सीधा संबंध संकल्पबल के साथ है।

आत्मबल में अविश्वास प्रयत्न की सब शक्तियों को क्षीण कर देता है। प्रयत्न के बिना कोई भी फल प्रगट नहीं होता। अतः प्रयत्न को उत्पन्न करने वाली आत्मश्रद्धा का जिसमें अभाव है उसका जीवन निष्क्रिय, निरुत्साही एवं निराशाजनक हो जाता है। जहाँ-जहाँ कोई छोटा-बड़ा प्रयत्न होता है वहाँ-वहाँ उसके मूल में आत्मश्रद्धा ही स्थित होती है और अंतःकरण में जब तक आत्मश्रद्धा स्थित होती है तब तक प्रयत्नों का प्रवाह अखंड रूप से बहता रहता है। आत्मश्रद्धा असाधारण होती है तो प्रयत्न का प्रवाह किसी भी विघ्न से न रुके ऐसा असाधारण एवं अद्वितिय होता है।

'मैं अमुक कार्य कर पाऊँगा' - ऐसी साधारण श्रद्धा भी यदि अंतःकरण में होती है तभी प्रयत्न का आरंभ होता है एवं प्रयत्न में मनुष्य में निहित गुप्त सामर्थ्य को प्रगट करने वाला अमोघ बल समाविष्ट होता है। दियासिलाई में अग्नि है किन्तु जब तक उसे पिसा नहीं जाता तब तक करोड़ वर्ष भी वह यूँ ही पड़ी रहे तो भी उसमें से अग्नि प्रगट नहीं होती। से घिसकर ही अग्नि को प्रगट किया जा सकता है ऐसे ही मनुष्य में निहित अत्यंत सामर्थ्य प्रयत्न के द्वारा ही प्रगट होता है।

मनुष्य में कितना सामर्थ्य निहित है इसका निर्णय कोई भी नहीं कर सकता। शास्त्र को उसे शाश्वत, सर्व सामर्थ्यवान, सर्वज्ञ, सत्-चित्-आनन्द, अनंत, अखंड, अव्यय, अविनाशी, निरंजन, निराकार, निर्लेप एवं परम प्रेमास्पद कहते हैं अतः मनुष्य जो चाहे वह हो सकता है। पाणिनी जैसे वैयाकरणिक, पतंजलि जैसे योग-प्रवर्तक, वशिष्ठजी जैसे तत्त्वज्ञ, विश्वामित्र जैसे

महान तपस्वी, जैमिनी जैसे उत्तम मीमांसक, कालिदास जैसे समर्थ कविकुलशिरोमिणी, धन्वंतरि जैसे वैद्य, भास्कराचार्य जैसे प्रखर ज्योतिर्विद, लिंकन जैसे मानवतावादी, गाँधी जी जैसे सत्यनिष्ठ, रमण महर्षि जैसे तत्त्वनिष्ठ, टैगोर जैसे महान कवि, जिब्रान जैसे सर्वांग सर्जक, स्वामी रामतीर्थ जैसे वैरागी, विवेकानन्द जैसे धर्म-धुरंधर, हेनरी फोर्ड जैसे उद्योगपति, आईन्सटाईन जैसे वैज्ञानिक, सुकरात जैसे सत्यवक्ता, डायोजिनियस जैसे निःस्पृही, सीजर जैसा विजेता, तुकारामजी जैसे क्षमाशील एवं ज्ञानदेव जैसा ज्ञानी-ऐसी आत्मश्रद्धा को अंतःकरण में स्थिर करके ही हुआ जा सकता है।

जिसके अंतःकरण में आत्मश्रद्धा स्थित हो वह भले एकदम अकेला हो, साधनविहीन हो फिर भी सफलता उसी का वरण करती है। उसके रोम-रोम में व्याप्त आत्मश्रद्धारूपी लौहचुंबक आस-पास से अनगिनत साधनरूपी लौहकणों को खींच लेता है। इसके विपरीत जिसकी आत्मश्रद्धा दब गयी हो वह भले लाखों मनुष्यों से घिरा हुआ हो एवं असंख्य साधनों से संपन्न हो फिर भी पराजित होता है। ऐसे कई उदाहरण हमें खुली आँखों देखने को मिलते हैं।

अपने इष्टावतार श्री रामचन्द्रजी के जीवन का ही दृष्टांत लें। जिसने देवताओं तक को अपना दास बना लिया था ऐसे रावण को हराने का निश्चय जब उन्होंने किया तब उनके पास कौन-से साधन थे ? समुद्र को पार करने के लिए उनके पास एक छोटी-सी नौका तक न थी। रावण एवं उसकी विशाल सेना से टक्कर ले सके ऐसा एक भी योद्धा उस वक्त उनके पास न था फिर भी श्रीराम ने निश्चय किया सीता को पाने का, रावण को हराने का तो अमित शक्तिवाला रावण भी रणभूमि की धूल चाटने लगा। यह क्या सिद्ध करता है ?

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

कार्यसिद्धि में पहले साधनों की नहीं, वरन् आत्मश्रद्धा की जरूरत है। आत्मश्रद्धा के पीछे साधन तो उसी प्रकार जुट जाते हैं जैसे देह के पीछे छाया।

ध्रुव का उदाहरण देखें। कहाँ पाँच वर्ष का नन्हा-सा एक बालक और कहाँ सृष्टि के पालनकर्ता भगवान विष्णु के अटल पद की प्राप्ति ! नारदजी ने अनेक विघ्न बताये फिर भी ध्रुव तनिक न डिगा। 'दूसरों को भले यह असाध्य लगे किन्तु मेरे लिए कुछ भी असाध्य नहीं है' - ऐसे दृढ़ आत्मविश्वास से उसने भयंकर तप शुरु किया, जिसके फलस्वरूप भगवान विष्णु को दर्शन देने ही पड़े।

शिवाजी, लिंकन, गाँधी जी, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, सुकरात, नरसिंह मेहता, मीरा, स्वामी रामतीर्थ, रमण महर्षि, योगानंद, पूज्यपाद लीलाशाहजी महाराज, स्वामी टेऊँराम वगैरह किन्हीं भी महापुरुष का जीवन देखें तो उनकी सफलता का रहस्य उनकी आत्मश्रद्धा में ही निहित दिखायी देगा।

आत्मा में अचल श्रद्धा होनी चाहिए। अपने में थोड़ा सा भी संशय, शंका अथवा अविश्वास आ जाय तो निराशा एवं असफलता मिले बिना न रहे। लाखों योद्धाओं को युद्ध में पराजित करने

वाले अर्जुन की सामान्य भीलों से पराजय में एवं 'असंभव' शब्द तक जिसके शब्दकोश में न था ऐसे नेपोलियन की 'वॉटरलू' के युद्ध में पराजय का कारण आत्मा में प्रगट हुए क्षणभर के अविश्वास के सिवाय अन्य कुछ भी न था। आत्मा में अविश्वास तृण जैसी मुसीबत को पहाड़ से समान कर देता है और आत्मा में विश्वास पहाड़-सी मुसीबत को भी तृण सा कर देता है।

आत्मबल में श्रद्धा रखने वाले मनुष्यों ने ही इस जगत में सामान्य मनुष्यों के लिए असंभव दिखते कार्यों को सिद्ध कर दिखाया है। 'अमुक कार्य मैं' जरूर कर सकूँगा।' ऐसा दृढ़तापूर्वक मानने एवं तदनुसार प्रयत्न में लगना इसी का नाम श्रद्धा है। किसी बात को न मानना, किन्तु तदनुनासार प्रयत्न न करना यह श्रद्धा नहीं, वरन् कायरता अथवा प्रमाद है।

आत्मबल में श्रद्धा उत्पन्न होते ही कायर शूरवीर हो जाते हैं, प्रमादी एवं आलसी उद्यमी हो जाते हैं, मूर्ख विद्वान हो जाते हैं, रोगी निरोग हो जाते हैं, दरिद्र धनवान हो जाते हैं, निर्बल बलवान हो जाते हैं और जीव शिवस्वरूप हो जाते हैं।

असफलता से हताश न हों। बारिश से पूर्व तेज गर्मी पड़ती है, उस गर्मी से व्याकुल न हों। जब लंबी कूद लगानी हो तो पाँच-दस कदम पीछे हटना पड़ता है। अतः असफलताओं से निराश मत हो। हिम्मत रखो। ज्यादा मेहनत करो। ज्यादा तीव्र पुरुषार्थ करो। कायर न बनो। कर्त्तव्य से च्युत न हो। अंतःकरण में आत्मश्रद्धा रखकर ज्यादा से ज्यादा पुरुषार्थ करो। सफलता आपका ही वरण करेगी।

जिसमें वक्ता होने की लेशमात्र भी योग्यता न थी ऐसे महान ग्रीक वक्ता डिमोस्थिनिस को ही देखें। जिसके द्वारा उच्चारण भी स्पष्ट नहीं हो पाता था, सभा में खड़े होते ही जिसके पैर थर-थर काँपने लगते थे एवं जिसमें पूरी विद्वता भी न थी ऐसे डिमोस्थिनिस ने निश्चय किया कि 'मुझे सर्वोत्कृष्ट वक्ता होना है, मुझमें ऐसा होने का पूरा सामर्थ्य है' और उसने सागरतट पर जाकर, सागर की लहरों को जीवित श्रोता मानकर बोलने की शुरुआत की। परिणाम क्या हुआ उसे सारा विश्व जानता है वह ग्रीक जगत का सर्वश्रेष्ठ वक्ता बना। इतना ही नहीं, अर्वाचीन काल में भी इस कला के अभ्यासियों के लिए सर्वोत्तम आदर्श बना।

किसी भी उच्च उद्देश्य का निश्चय करते समय संकोच न करो, 'अमुक कार्य को करने की मेरी योग्यता नहीं है' ऐसे संशय को अपने हृदय में जरा-सी स्थान न दो। व्यवहार में आपकी स्थिति चाहे कितनी भी दरिद्र क्यों न हो ? फिर भी चिंता न करो। धन-वैभव के तमाम आकर्षण देखकर आकर्षित न हो जाओ। अनंत-अनंत आकर्षणों को देखकर भी, जो सर्वोच्च है उस अपने आत्मस्वरूप में ही मस्त रहो। बड़े-बड़े वैभवों से परिपूर्ण व्यक्ति भी आपके आत्मबल के आगे नन्हें लगेंगे।

अमाप श्रद्धा एवं विश्वास के द्वारा अंतःकरण की सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत करके मानव नर में से नारायण बन सकता है।

जैसे-जैसे आत्मश्रद्धा बढ़ती है वैसे-वैसे कार्यशक्ति भी बढ़ती जाती है। हमारी श्रद्धा का पात्र अगर छोटा होगा तो उसमें ईश्वरीय शक्तियों का प्रवाह भी उतनी ही कम मात्रा में होगा।

जिन्हें अपने जीवन की महानता पर अडिग श्रद्धा थी ऐसे व्यक्ति इतिहास के पन्नों में अमर हो गये हैं। जो ऐसा मानते हैं कि उन्हें कहीं जाना ही है, ऐसे व्यक्तियों के लिए दुनिया अपने-आप रास्ता बना देती है।

आपका जीवन आपकी श्रद्धा के अनुसार ही होगा। जीवन को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को अपना जीवन उत्साह, उमंग एवं उल्लास के साथ जीना चाहिए एवं अपनी शक्तियों पर विश्वास रखकर, सफलता के पथ पर आगे बढ़ते रहना चाहिए।

श्रद्धा ही हमें सच्चे अर्थ में जीवन जीना सिखाती है। जहाँ से जीवन-प्रवाह चलता है उस शक्ति-स्रोत का द्वार हमारी श्रद्धा ही खोलती है। व्यक्ति की आत्मश्रद्धा के बल पर ही हम उसके जीवन की सफलता का मूल्यांकन कर सकते हैं। वास्तव में आशा की क्षणों में जो दिखायी देता है वही मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। निराशा की क्षणों में उसे जो दिखता है वह अंधकार से घिरा हुआ उसका रूप सत्य नहीं है।

हम अपने मन को अपनी शक्तियों एवं योग्यताओं के प्रति जैसा विश्वास दिलाते हैं, वैसी ही सफलता हमें मिलती है। दुनिया व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी आत्मश्रद्धा एवं दृढ़ जीवन-लक्ष्य से ही करती है। जिस व्यक्ति में आत्मश्रद्धा नहीं है उस पर कोई विश्वास नहीं करता।

आत्मश्रद्धा मानसिक राज्य की सम्राट है। मन की अन्य शक्तियाँ मानों, उसकी सेना के सैनिक हैं। वे शक्तियाँ अपने सम्राट की प्रेरणा से बढ़ती हैं। सैनिक अपने सम्राट के पीछे चलेंगे, उसके विश्वास के पीछे चलेंगे, उसके लिए मर मिटेंगे लेकिन जिस समय सम्राट डगमगा जायेगा, उसी समय उसकी सेना भी नष्ट हो जायेगी अर्थात् आत्मश्रद्धा के डगमगाते ही मन की शक्ति भी नष्ट हो जायेगी।

पूरा विज्ञान जगत एडीसन का नाम बहुत अच्छे से जानता है। उसने एक साथ कई प्रयोग शुरु किये थे। प्रत्येक प्रयोग में कोई-न-कोई गलती होती थी। हजारों रुपयों के साधन एवं लाखों रूपयों की यंत्र-सामग्री स्थापित करने पर भी इच्छित परिणाम नहीं आता था। वह पुनः नये तरीके से बार-बार प्रयोग करता किन्तु मुख्य गलती हो ही जाती थी। आगे क्या करें ? यह समझ में नहीं आ रहा था। एक रात्रि को उसकी प्रयोगशाला में आग लगी और सब जलकर खाक हो गया।

सुबह एडिसन ने उसी राख के ढेर पर खड़े होकर अपनी डायरी में लिखाः "दैवी-प्रकोप की भी अपनी कीमत होती है। इस भयंकर आग में मेरी सिद्धियों के साथ मेरी गलतियाँ भी जल गयीं। ईश्वर का आभार है कि अब सब नये सिरे से शुरु हो सकेगा।" उसके दूसरे ही क्षण से उसने एक छोटी सी झोंपड़ी में एकदम सादे साधनों के द्वारा अपने प्रयोग द्वारा अपने प्रयोग शुरु किये। सब कुछ भस्म कर देने वाली आग उसके उत्साह को भस्म न कर सकी। एडिसन ने

छोटी-बड़ी मुसीबतों की अवहेलना न की होती तो उसके नाम से 2000 से भी ज्यादा खोजें न लिखी जातीं !

विश्वविख्यात नेपोलियन बोनापार्ट ने एक सामान्य सैनिक के रूप में काम काज शुरु किया था। एक युद्ध के दौरान उसकी टुकड़ी जंगल में पड़ाव डालकर बैठी थी। उसके नेता ने नेपोलियन को दुश्मन की छावनी के पास जाकर आवश्यक जानकारी ले आने का आदेश दिया। हाथ में थोड़ी-सी रूपरेखावाला नक्शा देकर समझाते हुए कहाः "मिलेगा न रास्ता ?"

"रास्ता ढूँढ लूँगा और नहीं मिलेगा तो रास्ता स्वयं बना सकूँगा।" ऐसा कहकर नेपोलियन दृढ़तापूर्वक चल पड़ा अपने कार्य को सिद्ध करने। अपने संपूर्ण जीवन में दूसरों के द्वारा बनाये गये मार्गों को ढूँढने में उसने समय नहीं बिगाड़ा वरन् अनेकानेक अवरोधों के बीच भी अपना रास्ता आप बना लिया। दृढ़ निश्चय एवं आत्मश्रद्धा से अपने मार्ग में आने वाली अनेकों मुसीबतों को पैरों तले कुचल कर जीवन को सफलता के शिखर पर ला खड़ा किया। फ्रांस का महान सम्राट बनकर उसने अपने वाक्य को सिद्ध कर बताया। इतिहास इसका साक्षी है।

पोलियो से पीड़ित एक व्यक्ति बैसाखी बिना नहीं चल पाता था। उसके डॉक्टर ने अनेक उपाय किये किन्तु वह बैसाखी के बिना नहीं चल पाता था। एक बार दवाखाने में आग लगी, ज्वालाएँ आसमान को चूमने लगीं, बैसाखी को ढूँढने का समय ही न था और वह एक पल भी बिगाड़ता तो जल जाता। उसने सीधे ही दौड़ना शुरु किया। बैसाखी सदा के लिए अपने आप छूट गयी। कहाँ से आयी यह शक्ति ? आत्मा के अखूट भंडार में से ही न !

आत्मश्रद्धा से संपूर्ण जीवन में परिवर्तन आ जाता है। असफलता के बादल बिखरकर सफलता का सूर्य चमकने लगता है।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

नमस्कार की महिमा

प्रतिदिन सुबह-शाम माता-पिता एवं गुरुजनों के चरणों में प्रणाम करना चाहिए। नमस्कार की बड़ी महिमा है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य बर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।।

जो प्रतिदिन बड़ों की सेवा करता है, उनके चरणों में प्रणाम करता है एवं उनकी सीख के अनुसार चलता है उसकी आयुष्य, विद्या, यश एवं बल चारों बढ़ते हैं।

मृकन्डु नामक ऋषि थे। उनके पुत्र थे मार्कण्डेय। वे बाल्यकाल से ही पिता के संस्कार-सिंचन के अनुसार माता-पिता, गुरूजनों एवं संत-महात्माओं को नमस्कार करते। एक बार कोई

सिद्ध महात्मा उनके यहाँ आये। पिता ने बालक मार्कण्डेय से कहाः "बेटा ! महात्माजी को प्रणाम करो।"

बालक मार्कण्डेय ने झुककर चरणस्पर्श किया एवं सिद्धपुरुष की चरणरज को सादर मस्तक पर चढ़ाया। महात्मा उस बालक को एकटक देखते रहे मानो, उसके भावी जीवन पर दृष्टिपात कर रहे हों ! ऋषि ने पूछाः

"महाराज ! आप इस प्रकार एकटक क्या देख रहे हैं ?"

"बालक तो सुंदर है किंतु इसकी आयु अब बहुत ही कम शेष है।"

इतना कहकर उन सिद्धपुरुष ने पुनः विषादपूर्ण नेत्रों से बालक की तरफ निहारा।

ऋषि तो अपने लाडले पुत्र के विषय में यह दुःखद बात सुनकर हक्के-बक्के रह गये ! उन्होंने हाथ जोड़कर महात्मा से विनती कीः

"प्रभो ! इसका कोई उपाय ?"

"जो भी संत-महापुरुष आयें, ऋषि-मुनि आयें, उनके चरणों में इस बालक से प्रणाम करवाओ।" यह कहकर सिद्धपुरुष चल पड़े। मृकण्डु ऋषि ऐसा ही करवाने लगे। एक दिन सप्तऋषि पधारे। पिता ने बालक से प्रेम से कहाः "बेटा ! ऋषियों को नमस्कार करो।"

मार्कण्डेय ने खूब भावपूर्वक प्रणाम किया। सप्तऋषियों ने बालक के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दियाः "चिरंजीवी हो।"

पिता ने कहाः "महाराज ! इसकी आयु कम है एवं इसको आपके द्वारा चिरंजीवी होने का आशीर्वाद मिला है। प्रभो ! अब आपके आशीर्वाद के अनुकूल होने के लिए हमें क्या करना चाहिए ?"

"अब ऐसा करो, इस बालक को भगवान शंकर की सेवा में, पूजा-आराधना-उपासना में लगा दो। सब ठीक होगा।"

मृकण्डु ऋषि ने बालक मार्कण्डेय को देवाधिदेव महादेव की उपासना-आराधना में प्रवृत्त कर दिया। निर्दोष बालक मार्कण्डेय शिवजी की सेवा-पूजा में मग्न हो गया। प्रातःकाल जल्दी उठकर, स्नानादि से पवित्र होकर वह भगवान शिव के लिंग को स्नान कराता, बिलिपत्र, फल-फूल, धूप-दीप, नैवेद्य आदि चढ़ाता, प्रार्थना कराता, आसन पर बैठकर हाथ में माला लेकर **ॐ नमः शिवाय** का जप करता, ध्यान करता, स्तुति-स्तोत्रों का गान करता। इस प्रकार समय बीत रहा था।

मृत्यु की घड़ियाँ निकट आ गयीं। काले विकराल भैंसे पर लाल-लाल वर्णवाले यमराज प्रगट हुए। उन्हें देखकर बालक डर गया। घबराकर भगवान शंकर के लिंग को आलिंगन करके कहने लगाः "हे भगवान ! ये यमराज आ गये। बचाओ.... बचाओ।"

भगवान शंकर हाथ में त्रिशूल लेकर प्रगट हो गये एवं यमराज से बोलेः

"इस बालक को कहाँ ले जाते हो ?"

यमराजः "महाराज ! इसकी आयुष्य पूरी हो गयी है। सृष्टि के क्रम के अनुसार मैं अपने कर्त्तव्य का पालन करने आया हूँ।"

"अरे यमराज ! देखो तो अपने बहीखाते में.... इसकी आयु कहाँ पूरी हुई है ?"

यमराज ने बहीखाता देखा तो बालक के खाते में लंबी आयु जमा देखी। सृष्टि का सहार करने वाले देवाधिदेव योगीश्वर पशुपतिनाथ जिसका रक्षण करें उसका कोई बाल तक बाँका कैसे कर सकता है ?

"चलो, भागो यहाँ से" रूद्र गरज उठे। यमराज ने विदा ली। मार्कण्डेय चिरंजीवी बन गये। किसके प्रभाव से ? नमस्कार के प्रभाव से। ऐसी महिमा है नमस्कार की !

नमस्कार से रामदास, कर्म सभी कट जाय।
जाय मिले परब्रह्म में, आवागमन मिटाय।।

प्रतिदिन सुबह माता-पिता एवं पूजनीय-आदरणीय गुरुजनों को नमस्कार करो, प्रणाम करो। उनके आशीर्वाद लो। बड़े भाई, बड़ी बहन को भी नमस्कार करो। घर में यदि बड़े लोग इस नियम को अपनायेंगे तो छोटे बालक स्वयं ही उसका अनुकरण करेंगे। परस्पर नमस्कार करने से कुटुम्ब में दिव्य भावनाएँ प्रबल होंगी तो लड़ाई-झगड़ों एवं कटुता के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा। संयोगवशात् यदि कुछ खटपट होगी भी तो लंबी नहीं टिकेगी। परिवार का जीवन मधुर बन जायेगा। परमार्थ साधना सरल हो जायेगा।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

विदाई की वेला में

किसी की धन संपत्ति, पद-प्रतिष्ठा को देखकर वैसी इच्छा करने वाला व्यक्ति उसे भोगने वाले के प्रति ईर्ष्या करने वाला व्यक्ति स्वयं को माया के भँवर में डाल देता है। किसी के रूप-लावण्य, धन-सत्ता आदि की आकर्षक शान-शक्ति को देखकर 'वह मुझे कब मिलेगी ?' ऐसी इच्छा न रखकर, उनमें सुख-सत्ता में ही भोग रहा हूँ, ऐसा आत्मभाव करें। किसी से ईर्ष्या न करें। किसी के आगे सिकुड़ें नहीं। तुच्छ इच्छा न करें। आत्मदृष्टि करके अपने अखंड, नित्य, शुद्ध-बुद्ध आत्मदेव को प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प करें।

शिविर में आपने जो पाया है उसे बढ़ाते जाना। उस अमृत को आत्मसात् करने के लिए दिन में दो-पाँच बार, प्रत्येक दो-पाँच घण्टों में 'जगत स्वप्नवत् है एवं मेरा आत्मा नित्य मुक्तस्वरूप है। अंतर्यामी प्रभु के साथ मेरा शाश्वत संबंध है' इस शाश्वत संबंध का स्मरण करके नश्वर जगत की आसक्ति-ममता-अहंता को जड़मूल से उखाड़ते जाना। गाफिल न रहना। जीवन का सूर्य अस्त हो उससे पहले जीवनदाता का साक्षात्कार करने का उत्साह जाग्रत रखना। ॐ... ॐ.... ॐ......

भाई ! योग की इच्छा मात्र से असत्य, कपट, चोरी, बेईमानी, दगा, ईर्ष्या, द्वेष आदि दोषों का सिंचन होने लगता है एवं प्रभु प्राप्ति की इच्छामात्र से ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, नम्रता, सहनशक्ति, सच्चाई वगैरह सदगुण खिलने लगते हैं। अतः भोगेच्छा नहीं, अपितु प्रभु-प्राप्ति की इच्छा को तीव्र बनायें। ज्ञान, वैराग्यवर्धक साहित्य का पठन-मनन करें।

ऋण लेकर उत्सव न मनायें। अच्छा कहलाने के लिए शादी-विवाह, जन्मदिन की पार्टियों में खूब खर्च करके तथा बड़े बँगले एवं गाड़ियाँ बसाकर ब्याज अदायगी की चिन्ता सिर पर न लें। झूठी शान-शौकत, आडंबर, ठाठ-बाट एवं भोग-विलास तथा व्यक्तिगत रूप से हो सके, उतना कम खर्च करें।

नित्य आठ-दस प्राणायाम करें एवं थोड़े आसनों का अभ्यास करें। शुद्ध आहार लें। भोजन के वक्त पहले अपने परमात्मस्वरूप का चिंतन करें, फिर भोजन करें।

ऐसा व्यक्ति नहीं, जो मरेगा नहीं। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका वियोग न होगा। ऐसा कोई देश-देशांतर, लोक-लोकांतर नहीं है जो प्रलय से बच पायेगा। अतः अनित्य की आसक्ति छोड़कर नित्यमुक्त आत्मस्वरूप में स्थिर होने के लिए जो सावधान रहता है उसी का जीवन सफल होता है, उसी का जन्म धन्य है !

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

कीर्तन की महिमा

ऋषियों-मुनियों ने भक्तिभाव बढ़ाने के लिए श्रीहरि के भजन-कीर्तन को उत्तम साधन बताया है। इससे मन पवित्र एवं निर्मल होता है। अनंत काल से प्रसुप्त आत्मा जाग्रत होती है। भक्तजनों ने इस सर्वश्रेष्ठ साधन से मन का समाधान पाना बड़ा सुगम माना है। संतजन भी कीर्तन को अंतःकरण को कोमल बनाने का प्रभावशाली साधन बताते हं। सचमुच, परमात्म-प्रेम से भीगे हुए पदों के कीर्तन में ऐसा स्वाद है, ऐसा रस है, ऐसा प्रभाव है जो दूसरे मार्ग में दुर्लभ है।

खूब शांत भाव से, पूरे प्रेमपूर्ण अंतःकरण से प्रेममय पदों का पावन कीर्तन करना चाहिए। भावनापूर्ण हृदय से भक्तिपूर्ण गीत गाने चाहिए। भक्तिरस में सराबोर होकर, प्रेमावेश में गदगद होकर समानुरागरस में मग्न होना चाहिए।

जिस कीर्तन को करते-करते तन रोमांचित हो उठे, मन प्रफुल्लित हो जाय, प्रेमाश्रु बहने लगें, प्रेमावेग आ जाय, वह कीर्तन पूरे तन, मन एवं स्नायुओं तथा समग्र अस्थि-जाल को प्रभावित करके पावन बना देता है। इससे सहज ही आत्मशांति मिलने लगती है। हृदय जब भक्तिभाव से सराबोर हो जाता है तब समाधि के सभी साधन सुगम हो जाते हैं।

जिनकी वृत्ति स्थिर नहीं रहती, जिनमें श्रद्धा-भक्ति नहीं जगती, जिन्हें सन्मार्ग नहीं मिलता, जिनमें अचल निश्चय नहीं होता, उनका ध्यान-भजन भी भंग हो जाता है। यदि अन्तर्यामी प्यारे राम के पावनकारी नाम में मनोवृत्ति स्थिर हो जाय तो चित्त में उद्वेग अथवा उचाट न रहे। कामकाज करते हुए भी समता बनी रहे। कार्य करते हुए भी हरिस्मरण किया जा सकता है। ऐसे भक्त का मन कार्य करते हुए भी विषम नहीं होता। अतः प्यारे ! मुख में रखो रामनाम और हाथों से करो सुन्दर काम।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ

जागो रे जागो.......

अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धुवर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाणं कालवृको हन्ति पुरुषाजम्।।

'यह मेरा भोजन, यह मेरा वस्त्र, यह मेरी पत्नी, ये मेरे बांधवगण-ऐसे मेरा-मेरा करने वाले पुरुषरूपी बकरे को कालरूपी भेड़िया मार डालता है।'

अतः गहन निद्रा से जागो। सावधान हो जाओ। मोह-ममता के बुने हुए जाल को विवेक की कैंची से काट डालो। इतने सत्संग का श्रवण, ध्यान आदि करते हो तो अब मोह ममता से ऊपर उठकर आत्मपद में पहुँच जाओ। देर क्यों करते हो ? संसार सागर में अब तक खाये गये गोते क्या काफी नहीं हैं ? देहभाव से परे होने की तलब क्यों नहीं जगती ? निश्चित जानना कि आगे की राह बड़ी मुश्किल है। समय एवं शक्ति गँवाने के बाद चाहे कितना भी रोओगे, पछताओगे, सिर कूटोगे, फिर भी कुछ न होगा। **अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गयी खेत।** आयुष्यरूपी खेत के नष्ट-भ्रष्ट होने के बाद क्या होगा ? अतः अभी से सावधान ! आत्मवेत्ता सत्पुरुष के वचनों का मर्म हृदय में उतारकर आत्मपद की प्राप्ति कर लो। सदा के लिए सुखी हो जाओ। जीवभाव से पृथक होकर शिवत्व में विश्रांति पा लो।

अनुक्रम

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ